॥ श्री ॥

आत्मशुद्धि मार्ग



जिसको—

श्रीमती धूली बाई भटेवरा नगरी वालों की तरफ से
बालचन्द श्रीश्रीमाल रतलाम ने
सम्पादन करके प्रकाशित की.

प्रथमावृत्ति ५०० प्रति | मूल्य-सदुपयोग | संवत् २००१

प्राप्ति स्थान—

१ श्री साधुमार्गी जैन,

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराजकी सम्प्रदाय का-

हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम

२ भेंट मे मंगाने वालोंको =) के पोस्ट टिकिट भेजने से

श्रीयुत् छगनलालजी भटेवरा

नगरी–जिला मन्दसौर

मुद्रक—

राधाकृष्णात्मज बालमुकन्द शर्मा

प्रो० श्री शारदा प्रिंटिंग प्रेस,

स्टेशन रोड, रतलाम.

जिनकी पुण्य स्मृति में यह पुस्तक प्रकाशित हुई है



मर्हूम सागरमलजी मेहवरा, नगरी

जन्म सं० १९५८ स्वर्गवास सं० १९९८

❀ श्री ❀

चित्र परिचय

ग्वालियर रियासत के मन्दसौर परगणे में नगरी-नामक गाव है, जिसमें भटेवरा जाति के बहुत से घर हैं, जिनमें श्री गुमानजी चुन्निलालजी का घर बड़ा खानदानी था, भटेवरा गुमानजी श्रीमन्त ग्रहस्थ थे। श्री साधुमार्गी जैन-धर्म के अनुयायी थे। प्रात स्मरणीय पूज्यपाद श्री हुकमीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय जो ज्ञान दर्शन चारित्र की विशुद्धि के कारण जैन साधुमार्गी समाज में प्रतिष्ठित मानी जाती है, इस सम्प्रदाय के अनुरागी बनगये थे। श्रीयुत गुमानजी भटेवरा की सन्तानों में सिर्फ एक कन्या धूलीबाई ही है। जिनका जन्म सवत् १९३८ में हुआ था और सवत् १९५० में सैलाना निवासी श्रीयुत केशरीमलजी भंडेवरा के साथ जो इन्दौर रहते थे बारह वर्ष की अवस्था में विवाह हुवा था, परन्तु शादी होने के दस वर्ष बादही पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के उदय से धूलीबाई विधवा होगई। धूलीबाई के सन्तानों में केवल एक पुत्र स० १९५८ में हुवा, यह दो वर्ष का हुआ था कि उसे पिता के सुख से बेनसीब होजाना पड़ा।

धूली बाई विधवा हुई उस समय पुत्र छोटा होने के कारण नगरी में अपने पिता के घर श्रीयुत भटेवरा चुन्निलालजी को गोद लिये थे परन्तु वे भी बिना सन्तान के छोटी अवस्था में ही अपनी जीवन यात्रा पुरी कर गये। इससे धूलीबाई के जिम्मे दोनों जगह की जबाबदारी आपड़ी, इससे ये कभी इन्दौर और कभी नगरी रहती हैं।

卐 ॐ 卐

विषयानुक्रमणिका



॥ श्री ॥

卐 प्रार्थना 卐



श्रीमुनि सुव्रतसाहिबा, दिन दयाल देवांतणा देव के ।
तरण तारण प्रभु तुम धणी, उज्वल चित्त समरू नितमेवके ॥
॥ श्री मुनि सु॰ ॥ १ ॥
हूं अपराधी अनादि को, जनम जनम गुन्हा किया भरपुर के ।
लुटिया प्राण छेकायका, सेविया पाप अठार करूर के ॥२॥
पूरव अशुम कर्तव्यता, तेहमना प्रभुनाहि विचार के ।
अधम उधारण विरदछो, शरणआयो अब कीजिये सहायके॥३॥
किंचित पुण्य प्रभाव थी, इणभव ओलख्यो श्रीजिन धर्मके ।
निवृत्तु नरक निगोदथी, एहवी अनुग्रह करो परिब्रह्म के ॥४॥
साधुपणो नहीं संग्रह्यो, श्रावक व्रत नहीं किया अंगीकारके ।
आदरया तो न आराधिया, तेहथी रूलियो अनत ससारके ॥५॥
अब समकित वृत आदरू, तदपि आराध उतरू भवपार के ।
जन्म जी तव सफलो हुवे, इणपर वीनवु वार हजार के ॥६॥
सुमति नराधिप तुम पिता, धन्य २ श्री पद्मावति मात के ।
तसमूत त्रिभुवन तिलकतू वदत विनयचन्द शीश निवायके॥७॥

इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करने के पश्चात् आत्मा को राग द्वेष के मल से धोकर विशुद्ध बनाने और शान्ति भाव में स्थापित करने के लिये शान्ति प्रकाश नाम की भावपाही कविता आगे दी जाती है ।

卐 ॐ 卐

शान्ति-प्रकाश

यह शान्ति प्रकाश राग द्वेष की अग्नि से बचकर आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त करने का उत्तम साधन है। इसमें प्रथम के पच्चीस दोहे प्रभु प्रार्थना रूप हैं। पच्चीस दोहे राग निवारण के, पच्चीस द्वेष निवारण के, पच्चीस दोहे धैर्य धारण करने के पश्चात अनुभव पद ज्ञान महिमा के और शेष ग्रन्थ की प्रशस्ति रूप है। शान्ति प्रकाश के रचयिता मुनि श्री भज्जूलालजी महाराज ने सरल भाषा में इसकी रचना करके महान् उपकार किया है जो यहां दिये जाते हैं।

॥ प्रभु प्रार्थना ॥

प्रेम सहित वन्दों प्रथम, जिन पद कमल अनूप।
ताके सुमरत अधम नर, होवे शान्ति स्वरूप ॥१॥
तुम शरणे आयो प्रभु, राखिये लेउ निज टेक।
निर्विकल्प मम सिद्धजी, देवो विमल विवेक ॥२॥
करू वंदना भाव युत, त्रिविध योग थिर धार।
परम पूज्य आचार्य मम, देहु ज्ञान निरधार ॥३॥

उपाध्याय अध्ययन श्रुति, निशदिन करत अभ्यास।
दीनबन्धु मुझ दीजिये, शम दम ज्ञान विलास ॥४॥
सो साधु बाधा हरो, कर्म शत्रु रणजीत।
निपुण जौहरी ज्यों लख्यो, आतम रत्न पुनीत ॥५॥
अधिक प्रिय नव रसन में, है रस शान्ति विशेष।
स्थायी भाव निर्वेद से, मेटो सकल कलेश ॥६॥
विकल मति अभिलाष अति, कपट क्रिया गुण चोर।
मैं चाहत कछु शान्ति रस, तुमसे करौं निहोर ॥७॥
कहां पै जाचूँ जाय कर, तुम सम नहीं दातार।
करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्ति विचार ॥८॥
मैं गुलाम हौं रावरो, मैरो बिगरत काज।
ताहि सुधारो बनी रहै, मेरी तेरी लाज ॥९॥
शांति छवि निरखत रहौं, जाचू नहीं कछु और।
अरजी हुकम चढाय द्यो, परयोरहुँ तम पौर ॥१०॥
जो गुण होने चाहिये, मुझमें नहीं लवलेश।
तुम चरणन आश्रित रहुं, सो बुद्धि देहु जिनेश ॥११॥
तड़पत दुखिया मैं अति, पलक पड़त नहिं चैन।
अब सुदृष्टि कर निरखिये, ढीले रहे बनेन ॥१२॥
यह सम्बन्ध भलो बन्यो, हम तुम सों सर्वज्ञ।
त्यागे ताहि न सम रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥१३॥
मेटहु कठिन कलेश तुम, परमातम परमेश।
दीन जान कर बाचिये, दिन-दिन ज्ञान विशेष ॥१

कृपा करो निर्बुद्धि पै, लखू ज्यू अनुभव रीति ।
अशुभ और शुभ देखिके, करू न कबहू प्रीति ॥१५॥
सब प्रकार धनवन्त हो, सुनह गरीब निवाज ।
आरत रौद्र कुध्यान तें, बच-बच महाराज ॥१६॥
धर्म शुक्ल ध्यावत रहू, दोय ध्यान सुख कार ।
या जग ममता उदधि तें, देवो पार उतार ॥१७॥
करुणा करिके मेटिये, विषय वासना रोग ।
मैं कुपथी वेदन प्रबल, लाखि मति जोग अजोग ॥१८॥
मैं गरजी अरजी करू, सुनि हो जग प्रतिपाल ।
चाह सतावे दास को, यह दुख दीजे टाल ॥१९॥
प्रभु तब सम्मुख हो रहौं, देऊ जगत को पूठ ।
कृपा-दृष्टि अस करहु तुम, ज्यों भव जावे छूट ॥२०॥
मैंने जो कुकर्म किये, दीखत है सब तोय ।
महर करो प्रभू दीन पे, फेरन दुख दे मोय ॥२१॥
विपत्ति रही मोय घेर के, सुनी न अजहु पुकार ।
मेरी बिरिया नाथ तुम, कहां लगाई बार ॥२२॥
ऐसी बिरियां में कहा, टरि गये दीनदयाल ।
बिना कह्यो कैसे रहूँ, अब तो कर प्रतिपाल ॥२३॥
जो कहलाऊ और पै, मिटे न मम उरझार ।
मेरी तुमरे सामने, मिटसी मन की रार ॥२४॥
दुष्ट अनेक उद्धार के, थाकि रहे किसों दयाल ।
धीरे-धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥२५॥

—: राग निवारण अंग :—

अरे जीव भव वन विषैं, तेरा कौन सहाय।
जाके कारण पचि रह्यो, ते सब तेरे नांय ॥२६॥
संसारी को देख ले, सुखी न एक लगार।
अब तो पीछा छोड तू, मत धर सिर पर भार ॥२७॥
झूठे जग के कारने, तू मति कर्म बधाय।
तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥२८॥
तन धन संपत पाय के, मगन न हो मांय।
कैसे सुखिया होयगा, खोवत खाय लगाय ॥२९॥
ठाठ देख भूले मति, यह पुद्गल पर्याय।
देखत-देखत थाहरे, आसी थिर न रहाय ॥३०॥
लूटेंगे ज्ञानादि धन, ठग सम यह ससार।
मीठे वचन सुनाय के, मोह फांसि गल डार ॥३१॥
किसो भूत तोकों लग्यो, करे न तनक विचार।
ना माने तो परख ले, मतलब को ससार ॥३२॥
काया ऊपर थांहरे, सब से अधिकी प्रीत।
या तो पहिले सबन में, देगी दगो निचीत ॥३३॥
विषय दुखन को सुख गिने, कहो कहां तक भूल।
आंख छतां अंधा हुआ, जानपणा में धूल ॥३४॥
नित प्रति दीखत ही रहे, उदय अस्त गति भान।
अजहूं न ज्ञान भयो कछु, तू तो बड़ो अयान ॥३५॥

किसके कहे नचींत तु, सिर पर फिरे जु काल।
पांधे है तो बांधले, पानी पहिले पाल ॥३६॥
आया सो सबही गया, अवतारादि विशेष।
तू भी यों ही जायगा, यामें मीन न मेष ॥३७॥
यह अवसर फिर ना मिले, अपनो मतलब मार।
चुकते दाम चुकायदे, अब मत राख उधार ॥३८॥
कैसे गाफिल हो रहा, नेडा आत करार।
निपजी खेती देय क्यों, बाटी साटे गंवार ॥३९॥
धर्म विहार कियो नहीं, कीनो विषय विहार।
गाठ दाम रीत गये, आके अग हटवार ॥४०॥
काज करत पर घरन का, अपना काज बिगार।
सीतै निवारे जगत की, अपनी झोंपरी बार ॥४१॥
नहिं विचार तैंने किया, करना था क्या काज।
उदय होयगा कर्म फल, तब उपजेगी लाज ॥४२॥
झूठा समारीन की, छुटेगी तब खाज।
तब सुखिया तू होयगा, इनसें अलगा भाज ॥४३॥
अपनी पूंजी में करो, निश्चल कार विहार।
बांध्या सो ही भोग ले, मत कर और उधार ॥४४॥
नया धर्म न्रृण काढ के, करमी कार विहार।
देणा पदसी पारका, किम होसी छुटकार ॥४५॥
विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुख फल परिणाम।
जब निरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥४६॥

ऐरे मन मेरे पथिक, तू न जाव वहँ ठौर ।
पटमारा पाँचो जहां, करे साह कूँ चोर ॥४७॥
आरम्भ विषय कषाय को, कीना बहुतिकवार ।
कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हुवा ख्वार ॥४८॥
चारों सज्ञा में सदा, सुते निपुण चित लाय ।
गुरु समझावें कठिनसे, उपजे तउन विराग ॥४६॥
वैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करणो नहीं जोग ।
बिना विचारे तें किया, ताका ही फल भोग ॥५०॥

द्वेष निवारण अंग

बुरो कहे कोउ तो भली, तो तू भला ही मान ।
पूरा मीठा होत है, सब बनि हैं पकवान ॥५१॥
कटु तीक्षण अति विष भरी, गाली शस्त्र समान ।
अशुभ कर्म गुम्मड मिटो, यों जिय सुलटी मान॥ ५२॥
कटुक वचन कोऊ कह दिया, लगेजु दिलमें तीर ।
समदृष्टि यों समझले, मो जान्यो अतिवीर ॥५३॥
वैरी होता तो कबहुँ, नहीं कहता कटु बात ।
सज्जन दीखत माहरा, रुज लखित कटुक खवात ॥५४॥
अवगुण सुणकर आपणा, रे मन ! सुलटी धार ।
मो गरीब को जानिके, लीनो बोझ उतार ॥५५॥
मैं भुल्यो शुभ राह को, इनने दई बताय ।
जान परे नहीं, सज्जन सो

ज्ञान अस्त सूरज हुआ, मैं भूल्यो निज हाल ।
निन्दा रूप मसाल ले, इने दिखाई राह ॥५७॥
सुनि निन्दक के वचन कूँ, चित मति करे उचाट ।
यह दुर्गंधित पवन अति, बहती को मत डाट ॥५८॥
कुवचन सर क्या कर सकें, तू हो जा पाषाण
तेरा कछु बिगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥५९॥
कुवचन गोली के लगे, जो हो मन को मार ।
आपही ठंडी होयगी, हो जा शीतल गार ॥६०॥
तैने ऊपर सों कहीं, मैंने समझी ठेट ।
खटका सबही मिट गया, एक रह गया पेट ॥६१॥
रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
कुवचन धरधर थांहरी, इणने सौंपी आज ॥६२॥
होगी सोही नीसरे, वस्तु भरी जिहिं मांहि ।
या का गाहक मत बने, तेरे लायक नांहि ॥ ६३ ॥
अपना अवगुण सुण करि, मन माने जिय रीस ।
मनमें तू यों समझले, मुझको दे आशीश ॥ ६४ ॥
क्रोध अग्नि दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
क्षमा रूप जल छिड़किये, नेक न लागे मोल ॥६५॥
दुर्जन चुप होवे नहीं, तू तो छिन चुप साध ।
तृण बिन परि है अगनि कहुँ, आपहि होहि समाध ॥६६॥
तू तृण सम कटु वचन सुन, क्रोध अग्नि मत दाझ ।
उपल नीर सम करहु मन, तब मिलि हैं शिवराज ॥६७॥

आई गई गालि को, क्रोध चण्डाल समान ।
नेत्र पिछान चण्डालिनी, पग्गो पकरे आन ॥६८॥
प्रभु सहाय नहीं होयेंगे, रे जिय साँची जान ।
क्रोध करी जूँ हो गयो, साधू रजक समान ॥६६॥
आतम वस्त्र मैला लखि, इणने दीना धोय ।
कटुक वचन साबुन करी, निवल जानिके मोय ॥७०॥
जौहरी बनि के मति करे, कुंजड़ी के सग रार ।
रतन बिखरसी थांहरा, माजी साटे गँवार ॥७१॥
साला की गाली दई, यह विचार चित धार ।
भगिनी मम इनकी त्रिया, यों समझो व्रतधार ॥७२॥
कृतघनी बननो नहीं, दई गारि इण मोहि ।
अस आतम शीतल करी, मम उधार तब होइ ॥७३॥
गाली एकहि होत है, बोलत होत अनेक ।
रे जिय तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥७४॥
अनन्त काल पहिले प्रभु, देख रखे यह मात्र ।
पडि है कटुवच श्रवणमें, वे किम टाल्यो जाय ॥७५॥

— —:—

धैर्य धारण अंग

अय मन ! चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
निन्दा स्तुति रिपु मित्रको, एकहि दृष्टि निहार

धीरज धर भ्रम को तजौ, एह पुद्गल का ख्याल।
पर परछांहि पर रहो, तू तो चेतन लाल ॥७७॥
चञ्चलता को छोड़ दे, धीरज की कर हाट।
कर विहार गुण माल को, ज्यूं होवे बहु ठाट ॥७८॥
निज गुण में जिय ठहर तू, पर गुण पद मत धार।
पर रमणि में राचि करि, मत कहलावे जार ॥७९॥
तम रजनी नाशे नहीं, दीपक की कहि बात।
पूरण ज्ञान उद्योत बिन, हृदय मरम नहिं जात ॥८०॥
यथा लाभ सतोष कर, चहे न कछु दिल बीच।
या विधि सुख अति अनुभवे, तो न फसे दुखकीच ॥८१॥
मोह जनित दुख विकलपन, अथवा सुख स्वरूप।
गिने दोहू सम धीर धर, तो न परे भव कूप ॥८२॥
अपने-अपने गुणन में, थिर हैं सब ही वस्त।
त पुनि थिरकर अपन को तो सुख लहे समस्त ॥८३॥
दुख सुख दोनों फिरत है, धूप छांह ज्यों मीत।
हर्ष शोक क्यों करहि मन, धीरज धार नचीत ॥८४॥
अनहोनी होवे नहीं होनी नहीं टलात।
दौड़ी परसी आमले, क्यों होनी जा साथ ॥८५॥
चाह किये कछु ना मिले, करिके जह तह देख।
चाह छांडि धीरज धरहु, पद-पद मिलत विशेष ॥८६
सुनि उलझे मतिरे जिया, कर विचार चुप साध।
यही अमोल औषधि, मेटे सब दुःख व्याध ॥८७॥

रे चेतन ! मसार लखि दृढ कर नेक विचार ।
जैसे दे वैर्मा मिले, कुवे की गुजार ॥८८॥
चञ्चलता को छांडि के, काट मोह गल फांस ।
सम दम इम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥८९॥
अभिलाषा को त्याग कर, मनको रख मजबूत ।
तब कछु सुझे अगम की, यह सांची करतूत ॥९०॥
वोतो छांही वस्तु है, जाकी तोकू चाह ।
धण इक धीरज धारले, सहजे ही मिल जाय ॥९१॥
मत कर पर गुणमें रमण, ज्यों न लगे गल दोख ।
निश्चल रह निज गुणन में, आपही होगी मोख ॥९२॥
निश्चलता मू होयगा, रे जिम ब्रह्म समान ।
तृण ही का घृत होय है, गाय चरे पयपान ॥९३॥
जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार ।
बाल न बाका होयगा, जीवत ही मन मार ॥९४॥
धीरज गुण धारण किये, सब ही दुख मिट जाय ।
जैसे ठंडे लोह से, ताता लोह कटाय ॥९५॥
जिमि जल निर्मल मधुर मृदु, करत तप्त को अन्त ।
इम धीरज गुण चार लखि, करो ग्रहण बुधवन्त ॥९६॥
कला घटत अरु बढत है, नहिं शशी मंडल जान ।
जन्म मरण गति देह की, यों लखि धीरज ठान ॥९७॥
सुख दुख दोनों एक से, है समझण को फेर ।
एक शब्द दो-अर्थ ज्यों, लाख टके की सेर

सुख दुख दोऊ वेद मति, वेदे तो सम माय ।
जैसे मकरी जाल कों, पूरे अरु खा जाय ॥९९॥
समता को धारण किये, क्यों न हटे मन लहर ।
सुने गरुड की गर्जना, मिटे सर्प को जहर ॥१००॥

॥ अनुभव ज्ञान अंग ॥

कूकश विषय विकार सम, मति माखि मूढ गवार ।
अनुभव रस तू चाखि ले, गुरु सुख करि निर्धार ॥१०१॥
पाठ किये तें एक गुन, अनुभव किये हजार ।
तातें मनकू रोकि के, क्यों नै करे विचार ॥१०२॥
किये पाठ अनुभव विना, मिटे न मनका पाप ।
बाहर शीशी धोय के, करी चहे तू साफ ॥१०३॥
अल्प भार पाषाण को, जिमि लागत जल माहीं ।
तिमि अनुभव बीच कर्मको, बहु वचन व्है नाहिं ॥१०४॥
मन वच तन थिरतें भये, जो अनुभव माहि ।
इन्द नरिन्द फणीन्द के, ता समान सुख नाहिं ॥१०५॥
अनुभव से प्रभु मिलत है, अनुभव सुख का मूल ।
अनुभव चिंतामणी तजि, मति भटके कहु भूल ॥१०६॥
अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।
अनुभव बिन नहीं पार व्हे, कोटि करहु तदवीर ॥१०७॥

जिहिं विचारते पाइ है, मन को थिर सुख ठौर ।
ताको अनुभव जानिये, नहिं अनुभव कछु और ॥१८॥
बिना विचारे ज्ञान के, तू जंगल का रोझ ।
मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥१९॥
मन मतंग वस करन को, ज्ञानांकुश [illegible]
क्षमा थम्ब से बांध ले, लज्जा [illegible]
भ्रम तो मन रवि डाट ले, ज्ञान [illegible]
बिन्दु सम उपयोग से, कर्म [illegible]
सीसा सम संसार है, गुरू [illegible]
ज्ञान नेत्र बिन किम लखे, आप [illegible]
विषय वासना करत जो, [illegible]
श्रेसठ का उन समय में, जिनमें [illegible]
जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो [illegible]
और ठौर भटके मती, [illegible]
ज्ञान रूप दीपक [illegible]
जो रहतो दोनून में, [illegible]
ज्ञान सचेरे जिहि सये, [illegible]
और न पक्षी उड सके, [illegible]
घर नहिं छुटयो एक [illegible]
ज्ञान तणा सरसम [illegible]

छण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि को फेर ।
मेरी मेरी त्याग दे, यों होवे सुरमेर ॥११८॥

आठ पहर ढिग राख ले, ज्ञान स्वरूपी ढाल ।
मोह अरी के विषय सर, लगे न ताको भाल ॥११९॥

माया मोह निवार के, विषयन सो मन खींच ।
जा सुख चाहे आपणो, रहो ज्ञान के बीच ॥१२०॥

भेद लहे बिन ज्ञान के, मत भूसे जिम स्वान ।
लोक गडरिया चाल तज, आपन पे पहिचान ॥१२१॥

काम धेनु अरु कल्पतरु, इण भव सुख दातार ।
इण भव पर भव दुहन में, ज्ञान करत निस्तार ॥१२२॥

जगत मोह फासी प्रबल, कटत न और उपाय ।
सत्संगति करि ज्ञान की, सहज मुक्ति होजाय ॥१२३॥

बिच पारस अरु ज्ञान के, अन्तर जान महन्त ।
वह लोहा कंचन करत, यह गुण देय अनन्त ॥१२४॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिन मत को सार ।
ज्ञान सहित क्रिया करू, तब उतरूँ भव पार ॥१२५॥

अति आलस परमादियो, मदकुलाल मुरू नाम ।
ज्ञानोद्यम कछु ना बन, किम सुधरे मुक्ष काम ॥१२६॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहिं निश्चल चारित्र ।
मन भ्रमतो निशदिन रहे, नहिं ठहरे एकत्र ॥१२७॥

ऐसी करी विचारणा, रे जिय अवतो चेत।
राग द्वेष पतला हुवे, ऐसा करो संकेत ॥१२८॥
चार वर्ण गुरु रतनजी, तासु भेद चौबीस।
तामे भेद जु सेरवे, करी ज्ञान बकसीस ॥१२९॥
ज्ञान पाय हुलसी सुमति, शुक्ला छठ मधुमास।
संवतरस १९३६ भाग्निक भू, रच्यो शांति प्रकाश ॥१३०॥
अरिहन्त सिद्ध गणईशजी, उपाध्याय सब साध।
पंच परम गुरु दीजिये, निर्मल ज्ञान समाध ॥१३१॥



॥ इति शुभम ॥





—: मंगलाचरण :—

दोहा—

चार घाति कर्म क्षय करी, प्राप्त किये गुण चार।
ते जिनवर वन्दन करीं, करूं आत्म उद्धार ॥१॥

भावार्थ—जिन महापुरूषोंने ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का क्षय करके, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चार गुण प्राप्त किये हैं (प्रकट किये हैं)। उन श्री जिनेन्द्र भगवान को वन्दन करके आत्मोद्धार करने के लिये आत्म शुद्धि के मार्ग को ग्रहण करता हू।

आत्मा यह-अखण्ड, अविनाशी, त्रिकाल अबाधित और ज्ञानमय पदार्थ है। किन्तु जैसी २ पर्यायों में रहता है वैसा २ कहलाता है। यथा-बहिरात्मा-अन्तरात्मा एवं

परमात्मा। बहिरात्मा उसे कहते हैं जो मिथ्यादर्शन के कारण अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर देहादिक में ही अहं-कार और ममत्व धारण करता है। अन्तरात्मा उसे कहते हैं जो स्व और परका विवेक करके पर भावत्याग, स्वस्व-रूप का चिन्तन करता है। और परमात्मा उसे कहते हैं जो परभाव में खींचने वाले ज्ञानावरणियादि कर्मों का समूल नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लेते हैं। जब आत्मा परमात्म दशा को पहुँच जाती है तब तो उसे कुछ भी करने का अवशेष रहता ही नहीं और जहांतक बहिरात्म दशा में रहती है वहांतक उसे किसी तरह का भान ही नहीं रहता। किन्तु जो अन्तरात्मा है उसे स्व और परका भान होता है। वह विचार करता है कि इस आत्मा ने अज्ञानवश अनादि कालसे, अबतक अनन्त जन्म मरण किये हैं परन्तु इससे इसकी (आत्मा की) कोई गरज सरी नहीं। संसार में जितने भी प्राणी हैं और जिन्होंने जन्म धारण किया है उन सब के लिये मरण तो अवश्यम्भावी है। किन्तु मरण वही सराहनीय है, जिसके द्वारा अनन्तर या परम्पर प्रवाह रूप जन्म मरण का स्रोत बन्ध होकर आत्मा अपने निज स्वरूप में स्थित होकर शाश्वत स्थान को प्राप्त करले ...

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञानीजनों ने मरण को दो विभागों में विभक्त कर दिया है यथा बालमरण और पंडित मरण जिसको शास्त्रीय परिभाषा में अकाम मरण और सकाममरण के नाम से पुकारे हैं। अकाममरण उसे कहते हैं जिस मरण को प्राणी नहीं चाहता फिरभी विवश होकर बिलखता हुआ या हाय विलाप करता हुआ मरता है ऐसा मरण बाल जीवों को होता है। क्योंकि जिस योनि में यह विद्यमान है उसीको अपना सुखका स्थान मान रखा है और उसीमें अपना ममत्व बढ़ाता रहता है। इसी कारण यह मरना नहीं चाहता। किन्तु मरण उसके न चाहनेसे रूकता नहीं। वह तो अपना समय पूर्ण होते ही अशरण तथा असहाय चिर परिग्रहित शरीर को छोड़कर अपने उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जिस गति का आयुष्य बांधा है उस उत्पत्ति स्थान को चला जाता है।

सकाममरण उसे कहते है-जिस मरण को ज्ञानीजन इच्छा पूर्वक स्वागत करते मरते हैं। वे जब देख लेते है कि मेरा मरण समय सन्निकट आ पहुचा है। तब शीघ्र ही सावधान होकर जीवन भरमें जो कुछ स्खलना हुई हो, भूलें की हो, व्रतादि में दोष लगे हो, उनकी सच्चे दिल से आलोचना करके समाधि भाव को धारण कर लेते हैं।

और सर्व संकल्प विकल्पों का त्याग करके इस शरीर पर से भी अपना ममत्व हटा लेते हैं। और सथारा संलेखना करके परम शान्ति धारण कर अपना शेष जीवन पूर्ण करते हैं, वे महान् आत्मा या तो तद्भवही (उसी भव में) मोक्ष प्राप्ति कर परमात्मा बन जाते हैं। या मनुष्य देवता के कुछ भव करके भवान्तर में मोक्ष प्राप्त करते हैं। और अनादि संसार परिभ्रमण रूप सन्तति का उच्छेद कर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इस लिये प्रत्येक भव्यआत्मा को अपना अन्तिम समय (मरण) सुधारने के लिये सदा सावधान रहना चाहिये।

कहावत है कि जिसका मरण सुधरा उसका भव सुधरा क्योंकि संयम, तप, त्याग प्रत्याख्यान कायक्लेश आदि साधना जीवन भर इसी लिये की जाती है, कि उत्तम चरिया के आचरण से भावों की शुद्धि रहकर अन्तिम अवसर सुधारने की भावना जगे और वह अपना मरण सुधारे परन्तु जिसका मरण बिगड़ जाता है उसका भव भी बिगड़ जाता है एक भव ही नहीं अनेक भव भविष्य के बिगड़ जाते हैं। विराधक आत्मा यदि देवगति में भी जावे तो वैमानिक आदि ऊँची जाति का देव नहीं होता किन्तु हलकी जाति का देव होता है। वहां ऊँची जाति के देवों का वैभव, शक्ति, यश, प्रभाव आदि सुखों

को देख देख कर मन ही मन झूरता है और आर्त, रौ-
ध्यान करके नवीन कर्मों का निकाचित बन्ध कर लेता है।
वहां से आयुष्य पूरा करके पशु पर्याय पाकर फिर
नर्क निगोदादि में चला जाता है। जहां से निकलकर
मनुष्य भव प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ होजाता है।

श्री भगवती सूत्र में भगवान तीर्थंकर प्रभु ने फरमाया
है कि आत्मा सब से कम भव मनुष्य के करती है, उससे
असंख्यात गुणा अधिक नर्क के, उससे असंख्यातगुणा
अधिक देवता के और उससे अनन्तगुणा अधिक तीर्यं-
च के करती है। जब प्रबल पुण्योदय होता है तब आत्मा
मनुष्य योनि में आती है। इसमें भी आर्य क्षेत्र, उत्तम
कुल, दीर्घायुष्य, पांचों इन्द्रियें पूर्ण और निरोग शरीर
इन प्रत्येक बातों का सुयोग मिलना बहुत ही दुर्लभ है।
कदाचित ये सब संयोग मिल जावे तो सद्गुरू का संयोग
और उनके द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करना अत्यन्त
ही दुर्लभ है। ये सब संयोग हमें वर्तमान काल में भाग्य
योग से मिल गये हैं, अबतो आवश्यक्ता है उन आप्त
(वीतराग) वचनों ऊपर द्रढ श्रद्धा का होने और श्रद्धा
पूर्वक आत्म कल्याण के पथ में आगे बढ़कर प्रयत्न
करने की।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के श्री

गौतम स्वामि को सम्बोध कर शास्त्रकार ने फरमाया है कि ऐसी योगवाई प्राप्त होने पर भी आत्मा काम भोगों में मूर्छित होकर अपने निज स्वरूप को भूल जाती है। इस लिये हे गौतम! जो सुयोग्य मिला है, उसे सफल बनाने में समय मात्र का भी प्रमाद मतकर।

भगवान श्री गौतम स्वामि ने तो मिले हुए सुवर्णावसर को सफल बनाने में कुछ भी प्रमाद नहीं किया था और सम्पूर्ण केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन पाकर अपना अर्थ सिद्ध कर लिया। यह उपदेश तो हमारे ही लिये है कि हमभी प्राप्त सुयोग को सफल बनाने में प्रमाद न करें।

हमें शास्त्रकार के इन पवचनों को अपनाकर आत्म कल्याण करने के लिये सम्यक्-ज्ञान पूर्वक श्रद्धा सहित (सम्यक्त्व-सहित) श्री वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित साधु या श्रावक के व्रतोंको धारण करके निरतिचार उनका भली भांति पालन करना चाहिये तथा सदैव यह भावना रखनी चाहिये कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं आलोचना द्वारा मेरी आत्म शुद्धि करके पंडित मरण मरूंगा। यह भावना साधु श्रावक के मनोरथों में है।

इस प्रकार की भावना बढाते २ जब कोई रोग व्याधि आदि उत्पन्न होजावे जिसके प्रतिकार का उचित उपाय

करते हुए भी जब वह व्याधि शमन (शान्त) न होकर बढने ही लगे, शारिरिक शक्ति कम होने लगे, तब सावधान होकर सब से पहले अपने जीवन में जो २ विराधना हुई हो, दोषों का सेवन किया हो, अकृत्य या अनाचार किया हो, उन सबको याद कर २ के तथा त्याग प्रत्याख्यान लेकर उसका भग किया हो, उनको याद करके गंभीर प्रकृति वाले गुरु-महाराज के आगे या गंभीर एव जानकार श्रावक के आगे अथवा ऐसा कोई योग न मिले तो परमात्मा के समक्ष आत्म साक्षी मे उन कार्यों को जाहिर करके उनका पश्चात्ताप करें।

आलोचना किस प्रकार करना चाहिये-इसके लिये श्रावक के जीवन के अनुरूप आलोचनाका कुछ स्वरूप एक गुजराती पुस्तक (श्रावकनी आलोयणा) के आधार से संक्षेप मे यहा बताया जाता है।

आलोचना करने वाले भव्यात्माको पहले क्षेत्र विशुद्धि करनी चाहिये जिसकी विधि-प्रथम श्री नमस्कार मत्रका उच्चारण करके इच्छाकारेण का पाठ कहे फिर तस्स उत्तरी का पाठ कहकर कायोत्सर्ग करे जिसमें एक या दो लोगस्स पाठका मन में चिन्तवन करे, पश्चात् कायोत्सर्ग प्रकट में लोगस्सका पाठ कहे, बाद बायां गोडा

ऊचा करके दाया गोडा धरतीके लगा कर दोनों हाथ जोड कुछ नमा हुवा दो नमोत्थुण के पाठसे सिद्ध भगवान एव अरिहन्त भगवानकी स्तुती करे। उनकी स्तुति के बाद निम्न प्रकार आलोचना करे।

जैन दर्शन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप ये चार मोक्षके अग माने गये हैं। इनमें कोईभी अतिचार दोष लगा हो मूलगुण उत्तरगुणकी विराधना हुई हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्तकी शाखिसे, गुरुकी शाखिसे और आत्म शाखिसे आलोचना करता हू—

हे आत्मन ! तेंने अनादि काल से इस चतुर्गति रूप ससारमें नृत्यकारकी तरह अनेक रूपोंको धारण करके अनन्त कोटानुकोटि भवकिये, परन्तु जन्म जरा मरण रूप वेदना का अन्त नहीं आया। भूतकालमें त्रस और स्थावर रूपमें, स्त्री पुरुष एवं नपुसक रूप में, सधन निर्धन रूप में, ऊच नीच रूपमें, सौभागी दुर्भागी रूपमें रक और राजा रूपमें, सुरूप कुरूपमें पशु पंखी रूपमें, देवदेवी रूपमें नर्क निगोद रूपमें अवतार धारण करके सर्वजीवों के साथ माता पिता, भाई बहन, पतिपत्नी, और पुत्र पुत्री, इत्यादि अनेक प्रकार के सम्बन्ध किये और यह मेरा शत्रु बह, मेरा मित्र (हितैषी) इस प्रकार रागद्वेष के वश होकर सम्पूर्ण चौदह रज्वात्मक

लोकके सर्व प्रदेशोंको एक दो नहीं परन्तु अनन्तीवार फरस आया किन्तु सम्यक्त्व विना कुछभी गरज सरी नहीं अब मेरे पुण्योदयसे व श्री गुरुदेवकी कृपा से " श्रीजिनेन्द्र भगवान का अपूर्व धर्म " मिला है अतः प्रमाद का त्याग करके जीवनको सार्थक कर।

ये सांसारिक सम्बन्ध रखने वाले माता पिता, भाई बहन, पति पत्नी, पुत्र पुत्री इत्यादि सगास्नेही और नोकर चाकर आदि मेरे शरीर में रोगकी उत्पत्ति होने से जब मुझे पीड़ा होती है तब उसको मिटाने और मेरे दुख में भाग पडाने में तथा मरण आये मेरी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

मेरा शुभाशुभ कर्म मुझे ही भोगना पड़ता है। अतः यह सब मायिक कल्पित सम्बन्ध झूठा जानकर इनपर से मेरा ममत्व हटाता हुं इसी तरह. हाट हवेली, खेत कुआ अडाण, बाग बगीचा, खेत खला और चांदी सोना जवाहिरात के भूषण इत्यादि परिग्रह भी मरण से बचाने में समर्थ नहीं है। किन्तु इनपर रहा हुआ मेरा ममत्व खींच कर दुर्गति में ले जाता है। अतः इनपर से भी मेरा ममत्व हटाता हुं।

यह औदारिक शरीर मल मूत्र का भाजन, चामड़ी से विंटा हुआ हड्डियों का पिंजरा, अशुचि और दुर्गन्ध का स्थानक, जूने सड़े हुए वस्त्र सरिखा, वात पित्त कफ और श्लेष्म के द्वारा होने वाले रोगों का भंडार है इसका लालन पालन और रक्षण पोषण करते हुए भी यह अपना रूप बदलकर दगा देने वाला है। अतः जो महापुरुष इस शरीर के द्वारा महाव्रत अणुव्रत रूप धर्म को धारण करते है। शील, सन्तोष, दया, क्षमा आदि उत्तम २ गुणों का विकाश करते हैं, तप एवं त्याग का अनुसरण करते हैं। परोपकार एवं सेवा करके अपनी प्राप्त लक्ष्मी का सदुपयोग करते हैं उनको मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हुआ उनके गुणों की अनुमोदना करता हू। तथा मैंने इस अमूल्य अवसर को पाकर गफलत की है, प्रमाद में फसा हूं उसके लिये पश्चाताप करता हूं।

मैं दुर्भागी, छिद्रग्राही, हटीला, व्यसनी, अवगुण ग्राही निर्दय, आशा का गुलाम, विषय भिखारी स्वार्थी, निर्लज्ज, गुणचोर, विश्वासघाती, स्वामि द्रोही, धर्म द्रोही, पापी, आत्म घाती, अनेक दुर्गुणों का भंडार और स्वच्छन्द विहारी हु। मैं अपना आत्म भान भूलकर उल्टे मार्ग पर चला और सन्मार्ग चलने वाले सज्जन पुरुषों की निन्दा की उनका अपमान किया, अछते

उनको जनता में ढोंगी पाखण्डी बताने की कोशिश की, और अपनी झूठी प्रशंसा करके संसार के सामने सफाई पेश की इन सब दुष्कृत्यों के लिये बार २ पश्चाताप करता हूं।

मेरी आत्मा ने पूर्व काल में–चिड़ीमार, मच्छीमार धीवर, कोली, भील आदि कई जन्म धारण किये हैं। उनमें जो हिंसा की, कराई एवं अनुमोदी, तथा अनेक प्रकार के नीच कर्म किये, साधु श्रावक के व्रतों को लेकर भांगे, दूसरों के व्रत भंग कराने में प्रवृत्ति की उन सबको बारबार वोसिराता हूं, और अनन्त सिद्ध केवली भगवन्त की साक्षि से, मिच्छामि दुक्कड देता हूं।



॥ ज्ञान सम्बन्धी आलोचना ॥



सब से पहले ज्ञानाचार की आराधना करने के बदले मैंने निचे बताये हुए अतिचारों का सेवन किया हो, जैसे—१ सूत्र को उलट पुलट पढने से, उपयोग रहित शून्य चित्त पढ़ने से, हीन अक्षर बोलने से, अधिक अक्षर जोड़कर बोलने से, पद हीन पढने से, विनय रहित स्वच्छंद पढने से, योग (मन वचन काया के) हीन पढने से,

उदात्तादि घोष रहित पढनेसे (अथवा शुद्ध उच्चार रहित पढनेसे) योग्य एवं विनीतको ज्ञान न देनेसे विधिपूर्वक गुरु का बहुमान करता हुवा ज्ञान सम्पादन न करनेसे, अकालमें सूत्रोंकी स्वाध्याय करनेसे, स्वाध्याय कालमें प्रथम पहर और पिछली पहरको स्वाध्याय न करने से, अन्तरीक्ष एवं उदारिकादि की अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से और स्वाध्याय स्थानपर स्वाध्याय न करनेसे जो कोई अतिक्रम व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचारका स्वय सेवन किया हो दूसरों से सेवन कराया हो करते हुएका अनुमोदन किया होतो अनन्त सिद्ध केवली भगवानकी तथा आत्मा शाखिसे मिच्छामि दुक्कड ।

मैंने ज्ञानीयों के अवर्णवाद बोले हो, उनसे झगडे किये हो, उनपर असत्ये दोषों का आरोपण किया हो, तथा द्वेष भाव धारण किया हो, उनके उपकारों को भूल-कर उनके दोष देखे हो, उनके ज्ञान ध्यान में अन्तराय डाली हो, विध्न बाधा पैदा की हो, इत्यादि ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन हो, ऐसे आचरण किये हो,, मैंने अपनी हठ कदाग्रह और धिटाई के वश होकर सिद्धान्त के वचनों को उत्थापे हो, विपरीत परूपणा की हो, अपनी बुद्धि कि निर्बलता के कारण सूत्र सिद्धान्त के गहन भावों समझने से अपनी कुतर्क लगाकर उन प्रवचनों

किया हो, ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत पुस्तक पाना आदि की अवहेलना की हो, उनका अनादर किया हो, ज्ञान एवं ज्ञानी का अविनय अभक्ति और आशातना की हो, इत्यादि उपरोक्त दोषों का जानते अजानते सकल्प पूर्वक या उपेक्षा बुद्धि से सेवन किया हो कराया हो, अनुमोदन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म साक्षि से बारबार मिच्छामिदुक्कड़ ।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं दोषों को टालता हुआ ज्ञान के आठों आचारों का सम्यक् प्रकार आराधन करूगा ।

—: दर्शन सम्बन्धी आलोचना :—

दर्शन अर्थात् तत्वों की सच्ची श्रद्धा—एवं सुदेव-सुगुरु और सत धर्म की पहिचान करके आत्म अनात्म का भान होने रूप सम्यक्त्व के विषय में शकादि निम्न अतिचार दोष लगे हो—

१ श्री सर्वज्ञ वीतराग प्रणित प्रवचनो में—देश से या सर्व से शका का होना—जैसे आत्म तत्व है या नहीं, आत्मा को किसने देखा, स्वर्ग नर्क वास्तव में है और वहा जाकर

आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म का फल भोगता है या नहीं केवल भय या प्रलोभन रूप वर्णन ही सूत्रों में है। इत्यादि शंका की हो अथवा धर्म करणी करते समय शंकित हुवा होऊ।

२ कंखा—अन्य धर्मों में भी दयादान और परोपकार के सिद्धान्त हैं, इस लिये वे भी उपादेय हैं। इत्यादि अन्य दर्शनों की वांच्छा की हो, अथवा धर्म मार्ग में देवादिक की सहायता या लब्धियों की चाह की हो।

३ वितिगिच्छा—धर्म के फल में सन्देह करना जैसे मैं इतने २ वर्षों से धर्म का सेवन करता हू फिर भी मुझे कुछ भी फल नही मिला, सुखी नही हुआ इत्यादि तथा साधु मुनिराजों की मलीन उपाधि देखकर घृणा करना दुर्गन्छा करना।

४ परपाखण्ड प्रशंसा—अन्य दर्शन या दर्शनी की प्रशंसा करना जिससे दूसरों का उस तरफ आकर्षण होकर वे उधर खींच जावे।

५ परपाखण्ड सस्तव—उन अन्य दर्शनियों से आलाप सलाप करना, आना जाना, आदर सत्कार देना, दानमान आदि सहवास बढाना, जिसका असर साधारण पर बुरा पड़े और वे भी तरफ ललचावे।

१ किसी भी त्रस प्राणि को निर्दयता पूर्वक गाढ बन्धन से बांधा हो, जिससे कि उसको पीड़ा हो तथा समय पर जल्दी न खुल सके।

२ त्रस प्राणि को निर्दयता पूर्वक गाढ प्रहार दिया हो, जिससे उसकी हड्डी आदि अवयवों में चोट लगे, जोखम आजावे।

३ निर्दयता पूर्वक त्रस जीव के पांव, पूछ, सींग, कान आदि अवयवों का विच्छेद किया हो।

४ निर्दयता पूर्वक त्रस प्राणि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादा हो, जिससे वह हताश होकर महा कष्ट पावे। *

५ भात पाणी का विच्छेद किया हो, अर्थात् जो तिर्यंच या मनुष्य अपने आश्रित हैं, उनको समय पर खुराक पानी की सभाल न करते हुए भूखे प्यासे रखा हो, अन्तराय पाड़ी हो।

---

* पुत्र पौत्र को बिना दौस सम्भाले विवाह करके [illegible] की सम्भाल का बोझा लाद देना या छोटी [illegible] का भार डाल देना भी इसी [illegible]

इन पांच अतिचार में से किसी भी अतिचार का सेवन किया हो, कराया हो, अनुमोदन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्तकी तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कड।

मैंने प्रमाद या उपेक्षा बुद्धिमें अथवा लोभ वश सूला हुवा नाज बिना देखे वापरा हो, इंधण लकड़ी बिना देखे पूंज जलाये हों, चूल्हा सिगड़ी चक्की उखल मूसल आदिका बिना प्रमार्जन किये उपयोग किया हो, मार्ग में त्रस जीवों को न देखते हुए अकड़ कर चला होऊं। जू लीक माकड आदि जीवों को धूप में या मार्ग में डालकर इनके विनाश का प्रयत्न किया हो, स्नान करते पानी भरते तथा उलीचते हुवे जीवाणी का यत्न न किया हो। आरंभ समारम्भ के कार्यों में सावधानी न रक्खी हो इत्यादि कार्यों में मेरी गफलत से त्रस जीवों की विराधना हुई हो, कष्ट पीड़ा पहुचाई हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कड।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में सर्वथा प्रकार से हिंसा का त्याग करके सर्व जीवों को अभय दाता बनूंगा। वही दिवस परम कल्याणकारी होगा।

२ दूसरा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—जिसमें जान बुझकर बड़ा झूठ बोलने का त्याग किया जाता है। जिस

झूठ से जगत में अप्रतीति हो, राज्य पंच का गुनहगार हो तथा लोग अगुलियों बताकर निन्दा करें। ऐसे व्रत के पांच अतिचार है, जो व्रत को मलीन करते हैं, वे इस प्रकार है।

१ बिना विचारे, बिना निर्णय किये एकदम किसी के ऊपर अउचा दोषारोपण किया हो जैसे हां हां तू ही चोर है, दुराचारी है इत्यादि।

२ किसी के गुप्त दोषों को जन। में प्रकट किये हो जिसमें उसके हृदय को चोट पहुंचे और आपघात कर बैठे।

३ अपनी पति * के गुप्त दोषों या रहस्यकारी बातों को प्रगट किये हो जिससे वह अपमानित होकर लज्जा के मारे कोई अनर्थ कर बैठे।

४ निरर्थक पापकारी खोटे उपदेश दिया हो जिससे उसे पापकर्म की प्रेरणा मिले।

५ झूठे जाली खत लेख दस्तावेज बनाकर * किसी का बुरा चिन्तवन किया हो इन पांच अतिचारोंमें से जो कोई अतिचार का सेवन किया हो कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्त की तथा आत्म साक्षी से मिच्छामि०।

---

१ * स्त्री अपने पति के लिये बोले।

२ * यह अतिचार वहीं तक है जहाँ तक उसका उपयोग न किया जाय उपयोग में लेने पर यह अनाचार है।

इसी तरह कन्या आदि सर्व मनुष्यों सबंधी, गौ आदि पशुओं सम्बन्धी भूमि तथा भूमि से सम्बन्धित मकानात बाग-बगीचा एवं खेत खलों से पैदा होने वाले नाज, फल फूल सम्बन्धी स्वार्थवश होकर तथा स्वार्थ साधने की लालसा से झूठ बोला होऊ, दूसरों की धरोहर (अमानत रकम) दबाने की नीयत से झूठ बोला होऊ, राज्य पंच के समक्ष या धर्म स्थान में किसी की खोटी गवाही दी हो, चाड़ी चुगली या पर निन्दा की हो, मुख की वाचालता से असम्बद्ध बोलकर अविश्वास पैदा किया हो, किसीको असंख्य दोषों में गाली गलोच दिया हो, एवं फैल कठोर भाषा बोलकर किसी को आघात पहुंचाया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं ।

वही दिन धन्य होगा जिस दिन मैं सर्वथा प्रकार से झूठ का त्याग करके सत्यवादी बनूंगा, वह दिन मेरा परम कल्याणकारी होगा ।

३ तीसरा स्थूल अदत्ता दान विरमण व्रत—जिसमें इरादा पूर्वक परवंचन बुद्धि से विश्वास देकर परधन हरण का त्याग किया जाता है, जैसे—खात लगाकर ताला तोड़कर या खोलकर, डाका डालकर उपट रास्ते बन्द

घरमें घुसकर तथा नजर चुकाकर पड़ी हुई वस्तु उठाई जावे जिससे लोक निन्दा करे, राज्य गुन्हेगार समझकर सजा दे, ऐसे अदत्त के त्याग रूप व्रत के पांच अतिचार हैं जो व्रत को मलीन करते हैं, वे इस प्रकार हैं।

१ चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु ज्यादा मुनाफा कमाने के लालच से कम भाव में खरीद की हो।

२ चोरों को चोरी करने का साधन या द्रव्य देकर चोरी करने को प्रेरित किया हो।

३ राज्य विरुद्ध कार्य यानि दाण (हासल महसूल) चुराया हो, अथवा राज्य की सुव्यवस्था में अपने स्वार्थ के लिये धक्का पहुचाया हो।

४ कम देने और अधिक लेने की इच्छा से खोटे तोल नाप के साधन रखे हो।

५ अच्छी वस्तु दिखाकर उसका सौदा करके देते समय उसमें वैसी ही खराब वस्तु का सम्मिश्रण किया हो।

इन पांच अतिचारों में से जो कोई अतिचार का सेवन मैंने किया हो, दूसरों से कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की साक्षि तथा आत्म साक्षि से बारबार मिच्छामि दुक्कड़।

१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे–इस शब्द के अनेक प्रकार अर्थ किये गये है। एक अर्थ तो यह है कि इत्वरिक यानि कुछ समय के लिये भाड़ा या वेतन देकर अपनी बनाली हो उससे गमन किया जाय * दुसरा अर्थ यह है कि इत्वरिकापरिग्रहिता अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री होते हुए भी वय में अपरिपक्व (छोटी उम्र वाली है)है अबोध है उससे गमन किया हो।

२ अपरिग्रहितागमण–यह शब्द भी अनेक अर्थ सूचक है–यथा विधवा, अनाथ, कन्या या वेश्या अर्थात् जिनका पति विद्यमान नहीं है। ऐसी स्त्री से गमन किया हो। * दूसरा अर्थ यह है कि जिस कन्या की (मांगणी) सगाई अपने से हो चुकी है, परन्तु विवाह नहीं हुआ है। उससे पहले गमन किया हो, वह अपनी भावी स्त्री अवश्य है। पर पंच साक्षि से विवाह न हुआ वहांतक अपरिग्रहिता है।

३ अनगक्रिडा–दूसरे अवयवों से क्रीड़ा की हो, जैसे कुचमर्दनादि, ये कुचेष्टाएं शीघ्र ही अनाचार के समीप पहुंचा देती है।

---

२ * ऐसी स्त्री से गमन करना प्रत्यक्ष अनाचार है क्योंकि वह वास्तव में अपनी नहीं है परन्तु उसने ऐसा मान रखा है कि मन अपनी बनाली है इस लिये यह अतिचार में आया है पर है अनाचार जैसा।

४ पर विवाह करणे–इसकेभी दो तरह अर्थ होते हैं एक यह कि दुसरेके साथ सगाई हो चुकी है वैसी कन्याके साथ अपना व्याह करना दुसरा अर्थ यह है कि धनादिकी प्राप्तिके लिये स्वार्थवश होकर दूसरोंके विवाह सगपण आदि का योग मिलाकर सम्बन्ध कराना ऐसे कार्य किये हो।

५ काम भोगों की तीव्र अभिलाषा करना तथा पौष्टिक दवाइयें(मात्राए) खाकर विकार बढाना, उन्मादकारक अतिसरस आहार करना आदि किया हो। इन पांच अति-चारोंमें से किसी अतिचार का सेवन किया हो, कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कड़।

इसी तरह बलात्कारसे या परवश होकर व्रत की विराधनाकी हो, विषय विकारोत्पादक वचन बोलकर या गुप्त अवयव दिखाकर दूसरों को मोह विकलता उपजाई हो, रूपवन्त सुसज्जित स्त्री पुरुषों को देखकर विषयेच्छा की हो केफी पदार्थ (नशाकारक) खाकर वासना जागृतकी हो, काष्ट पाषाण रबरकी पुतली को देखकर आलिंगनादि परिचारणकी हो, माता,पिता, गुरू,गुराणी, भाई,बहन, पुत्र, पुत्री आदि पर खोटी मलीन भावना भायी हो, पशु पक्षी-यों का सहयोग मिलाकर उनकी काम विकलता

मैथुन सज्ञा जागृतकी हो, हास विनोद विलास विकथादि के द्वारा कामोत्तेजनाकी हो, तिथि पर्वादि के नियम लेकर भागे हो स्वप्न में दुर्विचारों के द्वारा व्रत भग किया हो। इत्यादि अकल्पनीय कामों से मेरा शीयल व्रत दूषित हुआ हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाखि मे वारंवार मिच्छामि दुक्कड ।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में सर्वथा प्रकार काम विकारों से निवृत होकर पूर्णरूपेण शीयल व्रत का पालन करूगा वही दिन मेरा परम कल्याणकारी होगा।

५ पांचवा स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत—जिसमें आशा तृष्णा पर विजय प्राप्त करने के लिये परिग्रह का परिमाण किया जाता है, (मर्यादा की जाती है.) उसके पाच अतिचार है, जो व्रत को दूषित करते हैं, वे इस प्रकार है।

१ खुली जमीन तथा जायदाद आदि के परिमाण को उलघन किया हो। *

२ सोना चांदी जवाहिरात के दागिने तथा बिना घडा सोना चादी जवाहिर के परिमाण का उलघन किया हो।

---

* परिमाण का उलघन करना अनाचार है, किन्तु जहांतक हमें मालुम नहीं कि मेरा परिमाण (मर्यादा) उलघन हो रहा है, वहातक अतिचार है, याद सेवे तो अनाचार है।

३ धन (रोकड़ नाणो) तथा धान्य का परिमाण का उलघन किया हो ।

४ दोपद–चौपद (सीका) अर्थात् मनुष्य पशु-पक्षी आदि का परिमाण उलघन किया हो ।

५ कुविय धातु अर्थात् घर वाखरा के सामान का परिमाण उलघन किया हो । उपरोक्त वस्तुओं के परिमाण का उलंघन किया हो, कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकड ।

- इसी तरह परिग्रह में अत्याधिक मूर्च्छा भाव रखा हो, धन पैदा करने के समय कर्तव्याकर्तव्य का भान भूल गया हो, चक्रवर्ती वासुदेव कुबेर आदि की ऋद्धि की वाच्छा की हो, इत्यादि पाचवें व्रत में जो दोष सेवन किया हो, कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकडं ।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में सर्व वाह्याभ्यन्तर परिग्रह से निवृत होकर सन्तोष वृति धारण करूगा, वही दिन मेरा परम कल्याणकारि बनेगा ।

६ छठादिसिपरिमाण व्रत—जिसमें दिशाओं में भ्रमण करने की मर्यादा करके अनियमित जीवन को सिमा बद्ध

किया जाता है, उस व्रत के पांच अतिचार हैं वे इस प्रकार है।

१-२-३ ऊंची निची तिरछि दिशाओं के परिमाण का उलघन किया हो,।

४ एक दिशा की मर्यादा घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण में वृद्धि की हो।

५ मार्ग चलते २ सन्देह प्राप्त होने परभी आगे चला होऊं तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाखि से मिच्छामि दुक्कड़।

इसी तरह मर्यादा उपरान्त कागद कासीद भेजकर हिंसादि आश्रव निपजाये हो, तथा मन वचन काया के योग मर्यादित भूमि से बाहर प्रवर्तीये हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाखि से मिच्छामि दुक्कड़।

७ सातवा उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—जिसमें जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों की मर्यादा करके जीवन को सीमित बनाया जाता है और छब्बीस बोलों की मर्यादा की जाती है। इस व्रत के दो भेद है यथा-१ वस्तु भोगवने रूप तथा वस्तुओं की प्राप्ति के लिये व्यवसाय कर द्रव्यो पार्जन रूप जिसमें से वस्तु भोगवने रूप व्रत के पांच अतिचार हैं, वे इस प्रकार हैं।

१ प्रत्याख्यान किये हुए—सचित पदार्थों का अजाय-पणे आहार किया हो।

२ सचित पर लगे हुए अचित द्रव्य का आहार किया हो।

३ अपक्व अर्थात् पूरीप के बिना अधपकी वस्तुओं का आहार किया हो।

४ दुपक्व अर्थात् बुरी तरह पकाई हुई (भडीत्यादि) का आहार किया हो।

५ तुच्छा वस्तुओं का—जिसमें से कम भाग खाया जाय अधिक डाला जाय, आहार किया हो, जैसे सांठा शीताफल आदि।

इसी तरह अभक्ष्य, अनन्तकाय आदि का आहार किया हो, बिना छना हुवा पानि पिया हो, चतुराई से बनाया हुआ भोजन सराय २ कर खाया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाखि से तथा आत्म शाखि से मिच्छामि दुक्कड।

इन भोगोपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये द्रव्यों-पार्जन करने के जो व्यवसाय है, उनमें पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों को ज्ञानी महापुरुषों ने " कर्मादान " कर्म

भादा-नयानि कर्म आने के मार्ग वतलाये हैं और श्रावक को ऐसे व्यवसाय करने का निषेध किया है, जो इस प्रकार है.

१ इंगालकम्मे–अग्नि के आरम्भ द्वारा आजीविका की हो, जैसे-कोयले बनाकर बेचना, अथवा ईंटे आदि पकाने का कार्य किया हो।

२ वणकम्मे–वन की लक्ष्मी (झाड) काट २ कर बेचे हो तथा बाग बगीचे ठेके लेकर फल फूल बेच के आजीविका की हो।

३ साडीकम्मे–गाडा गाडी नाव जहाज आदि जल स्थल के वाहण बना २ कर बेचे हो।

४ भाडीकम्मे–पशु आदि त्रस जीवों पर भार लादकर भाड़ा (किराया) उपजाने रूप आजीविका की हो।

५ फोडीकम्मे–खाने आदि खोदकर पत्थरादि निकाल कर आजीविका की हो या खदान का सामान निकाल २ कर बेचकर आजीविका की हो।

६ दन्तवणिज्जे–हाथी के दांत निकाल २ कर बेचे हो हड्डीयों का व्यापार किया हो।

७ लेक्खवणिज्जे–कच्ची लाख दरख्त से निकाल कर

या निकलाकर व्यवसाय किया हो तथा लाई चपड़े का कारखाना किया हो।

८ रसवणिज्जे—मदिरा (दारू) बनाने तथा बेचने का व्यवसाय किया हो।

९ विषवणिज्जे—प्राणियों की हिंसा हो ऐसे जहरीले पदार्थों का व्यवसाय किया हो।

१० केशवणिज्जे—सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय विक्रय किया हो या जानवरों का व्यवसाय किया हो।

११ जन्तपीलणकम्मे—यन्त्र (मशिनरी) द्वारा तथा घाणी चरखियों द्वारा पिलने का कार्य करके आजीविका की हो।

१२ निलञ्छणकम्मे—पशु आदिको नपुंमक करने रूप कार्य से आजीविका की हो।

१३ दवग्गिदावणियाकम्मे—वन खेत खला आदि में अग्नि लगाकर साफ करने रूप आजीविका की हो।

१४ सरदहतलाय सोसणयाकम्मे—तालाबादि की पाल फोड़कर तथा कुवा बावड़ी आदि में से पानी खींचकर सुखाने रूप आजीविका की हो।

१५ असइजणपोषणयाकम्मे–असति अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण कर अनाचार कर्म द्वारा अथवा हिंसक जीवों को पोषकर शिकार कराने रूप आजीविका की हो, इत्यादि कर्मादानों में से जो किसी कर्मादान का सेवन किया हो, कराया हो और व्रत को दूषित बनाया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्मा की साक्षि से, मिच्छामि दुक्कड ।

८ आठवा अनर्थ दण्ड विरमण व्रत–जिसमें बिना प्रयोजन, बिना मतलब निरर्थक कर्मबन्धन कराने वाले कार्यों का त्याग किया जाता है वह अनर्था दण्ड चार प्रकार का है । यथा अपध्याना चरित, प्रमादा चरित, हिंसप्रदान, तथा पापकर्मोपदेश ।

१ अपध्यान बिनाप्रयोजन निरर्थक दुष्टचिन्तवनरूप विचार धारा चलाते रहना जिसके द्वारा भारी कर्मों का बन्धन होता है ।

२ प्रमादवश–बेपरवाही से अग्नि का स्थान, गरम पानी, घृत, तेल आदि तरल पदार्थ के ठाम (बर्तन) उघाडे छोड देना जिस में अनेक त्रस प्राणी गिरकर उनका नाश होजावे ।

३ हिंसाकारीशस्त्रों का आवश्यक्ता सिवाय संग्रह रखकर लोगोंको यश प्राप्ति की इच्छासे वापरने को देना ।

४ पापकर्मोपदेश—विना जरूरत आदतसे लाचार होकर लोगों को पाप की प्रेरणा देना, उपदेश करना ।

उपरोक्त चार प्रकार अनर्थ दण्ड के त्याग किये जाने रूप व्रत के पांच अतिचार है—वे इस प्रकार है ।

१ कंदर्प जागे ऐसी कथाएं सुनी हो या की हो ।

२ काम विकार जगे ऐसे वाक्य बोला हो, ऐसे गायन किये हो, भांड की तरह हसी दिल्लगी की हो, नकलें की हो ।

३ मुख की वाचालता में बिना जरूरत यद्वा तद्वा बोला होऊं ।

४ अपनी आवश्यक्ता सिवाय उपकरणों (साधनों) का संग्रह बढाया हो ।

५ भोगपभोग की वस्तुओं का अधिक संग्रह किया हो, तथा उनपर तीव्रमूर्च्छा भाव रखा हो ।

इत्यादि अतिचारों में से जो कोई अतिचार दोष सेवन किया हो कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शान्ति से मिच्छामि दुक्कड ।

छठा-सातवां और आठवा ये तीन व्रत गुण व्रत कहलाते हैं इनको धारण कर उपयोग सहित निरतिचार पालन करने से प्रथम के पांच अणुव्रत शुद्ध पल सकते हैं, ये इन पांच मूल व्रत में गुण पैदा करते हैं। इनके बिना पांच मूल अणुव्रतों का पालन नहीं हो सक्ता, इस लिए ये गुणव्रत है।

ये आठ व्रत-यावज्जीवन के त्याग करने रूप है, निवृत्ति मार्ग के है।

६ नवमा सामायिक व्रत—जिसमें आत्मा को पूर्ण रूपेण सामारिक जजालों से छुड़ाकर समाधि भाव में स्थापित करने की क्रिया की जाति है, उस व्रत के पांच अतिचार है जो व्रत को दूषित बनाते हैं वे इस प्रकार है।

१ मन का दुष्प्रणिधान—अर्थात् मनको स्वछन्द प्रवर्तने दियाहो।

२ वचन का दुष्प्रणिधान—विगेर विचारे, सत्, तथ्य, मित और प्रिय न बोलते हुए यद्वातद्वा बोला होऊ।

३ कायकादुष्प्रणिधान—काया को सावद्य (पापकारी) कार्यों में प्रवर्ताया हो।

४ सामायिक विमर्जन–सामायिक करते समय की या नहीं यह भूल गया होऊ ।

५ सामायिक का काल पूर्ण होने से पहले ही जानते अजानते पाल ली हो ।

इसी तरह सामायिक करके आत्म चिन्तन या प्रशस्त ज्ञानावलम्बन न लेते हुए विकथाएं की हो, प्रमाद का सेवन किया हो, खाने या लेने की लालसा से सामायिक की हो, सामायिक के फलस्वरूप पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति की अभिलाषा की हो तथा भविष्य विषयक निदान किया हो, सामायिक में मन वचन काय के बत्तीस दोषों का सेवन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाक्षि तथा आत्म शाक्षि से, मिच्छामि दुक्कड ।

१० दशवां देशावकाशिक व्रत–जिसमें–पिछले आठ व्रतों में से यावज्जीवन की जो मर्यादा की है उसको एक दिन या कुछ दिन के लिये संक्षिप्त करना और बिन जरूरत का त्याग करना अर्थात् नियम चितारना, दया करना संवर करना उपवास करके देश पौषध करना, इसके पांच अतिचार निम्न प्रकार है ।

१ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ दूसरों के द्वारा बाहर से मगवाये हो ।

२ मर्यादा उपरान्त पदार्थ दूसरों के द्वारा बाहर भेजे हो।

३ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ का शब्द करके संकेत किया हो।

४ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ को रूप दिखलाकर बताया हो।

५ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ का पुद्गल डालकर इशारा किया हो।

इस प्रकार दशवें व्रत के अतिचारों का कुटिलता पूर्वक सेवन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की साक्षि व आत्म साक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

नोट-दशव्रत—जीवन की आवश्यकताओं को संकोचकर त्याग वैराग्य बढ़ाने के लिये है परन्तु भोग लालसा व आवश्यकता, उसमें कुटिलता पैदा करके व्रत को दूषित करती है स्वतः न करके दूसरों से काम लेने में पाप से बचने की भावना कुटिलता पैदा करती है, माया को जन्म दे जो क्रमशः सम्यक्त्व से भी च्युत करती (गिराती) है।

११ ग्यारहवां पौषधोपवास व्रत-जिसमें चारों आहार, शरीर शुश्रूषा ब्रह्मचर्य तथा अब्रह्माचार रूप चारों अंग

पूर्ण वृत्ति धारण कर के आत्मा को पुष्टावलम्बन देना और दिन रात धर्म स्थान में समाधि पूर्वक रहना जिसके पाच अतिचार है जो व्रत को दूषित करते हैं वे इस प्रकार है.

(१) जहा पौषध किया जाता उस मकान व बिस्तर आदि का दिनके समय प्रतिलेखन न किया हो अथवा खराब तरह बिना रीती किया हो।

(२) मकान बिस्तर आदि को रात्रि के समय पूजा न हो अथवा बुरी तरह पूजा हो।

(३) पेशाब पाखाना आदि पठाने की जगह का दिन के समय प्रतिलेखन न किया हो अथवा खराब तरह किया हो।

(४) रात्रि के समय न पूजा हो अथवा अविधि से पूजा हो।

(५) पौषधव्रत को उचित प्रकार से न पाला हो चित्त समाधिमें न प्रवर्तायाहो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवानकी शाक्षी से तथा आत्म शाक्षी से मिच्छामि दुक्कड।

पौषधव्रत आत्मा की समाधि बढाने के लिये किया जाता है इस में जरासी दोष न लगना अठारह दोष हैं जो इस प्रकार है।

पोषध के १८ दोष.

१ पोषध के निमित्तसे सरस २ आहार करे. २ मैथुन सेवन करे ३ नख केश कटावे ४ वस्त्र धुलावे, ५ शरीर की विभूषा करे. ६ सरलता से न खुल सके वैसे आभूषण पहने ये छः पोषध करने के पूर्व दिवस लगते हैं इनको न टाले हो. ७ जो व्रतधारी नहीं है उसकी वैयावच्च करे, उससे कराते या वैसे व्यक्ति को आदर सत्कार दे ८ पसीना होने पर शरीर को मलकर मैल उतारे ९ दिन में नींद लेवे और रात्रि में प्रहर रात्रि गये पहले सो जावे पिछली रात्री में धर्म जागरण नहीं करे १० बिना पूंजे खाज खुजाले ११ बिना पूंजे परठे। १२ निन्दा या विकथा करे। १३ भय खावे या भय देवें। १४ सांसारिक बात चित करे या ऐसी कथा वार्ता करे। १५ स्त्री के अंगोपांग निरखे। १६ खुले मुह अयत्ना से बोले १७ कलह (वाग्युद्ध) करे १८ सांसारिक नातेसे बोलावे-जैसे काकाजी, मामाजी, पिताजी, पुत्र-पुत्री आदि सम्बोधन इन दोषों में से किसी दोष का सेवन किया हो, दुसरों से कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

१२ बारहवा अतिथि सविभाग व्रत अथवा यथा संविभाग व्रत जिसमें अपने खान पानादि उपभोग के पदार्थों से अतिथि साधुजनों का सविभाग करना, उनको उनके कल्पानुसार आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर उनके संयम जीवन का निर्वाह करने में सहायक होना और अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करना ऐसे व्रत के पाच अतिचार है जो व्रत को दूषित बनाते है वे इस प्रकार हैं।

(१) शुद्ध (एषणिक व प्रासुक) निर्दोष आहारादि सामग्री जो संयमी जीवन वाले साधु महात्मा के ग्रहण करने योग्य है उसको न देने की भावना से सचित में मिला देना, सचित वस्तु पर रख देना या उसपर सचित पदार्थ रखना -कालातिक्रम करना, दूसरों को वहरा देने का कहकर आप अलग होजाना अथवा वस्तु को दूसरों की बताना मात्सर्य भाव (ईर्षा) कर दान देना इत्यादि अतिचारोंमें से किसी अतिचार दोष का सेवन किया होतो, अनन्त सिद्ध केवली की तथा आत्म शाखी से मिच्छामि दुक्कडं ।

इसी तरह साधु महात्माको नहीं गमे (रूचे) ऐसा आहारादि दिया हो, उद्‌गमन के सोलह दोष लगा दिये हो, साधुजन घर आनेपर उनका अनादर किया हो, ज्ञान युक्त

होते हुए टटा लगा कर निपजाया हुवा आहार दिया हो, छती योगवाई इन्कार कर दिया हो, सरीखे साधु साध्वियों में भेद भाव लाकर न्यूनाधिक भक्ति की हो, इत्यादि बारहवें व्रत में जो दोष सेवन किये हो, कराये हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की तथा आत्म साक्षी से मिच्छामि दुक्कड़ ।

यह बारहवा व्रत मुख्यता में पात्रता की अपेक्षा से सयमी जीवन वाले उत्कृष्ट पात्र को मुख्य करके इसकी व्याख्या की है परन्तु श्रावक का यह मुख्य कर्तव्य है कि पात्रानुसार हरेक का पोषण कर अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करे, सहधर्मी की वात्सल्यता करके समाज को सुखी एवं सम्पन्न बनावे, जहां दूसरों का दुख देखकर भी दिल न पिघले और अपनी सम्पत्ति का ममत्व न घटे वहां श्रावक व्रति टिकना ही कठिन है ।

इस प्रकार बारह व्रतोंके अतिचारादि दोषोंकी तथा अठारह पापों की आलोचना कर आत्मा को पवित्र बनावें और उसमें जहां २ स्खलनाएं हुई हो उनका प्रायश्चित लेकर आत्माकी शुद्धि करे । बाद यदि शरीरकी हालत पर से या बिमारीकी असाध्यता से अपना मृत्यु निकट [illegible] तो संलेखना के पाठ में बताये हुए [illegible] का,

तथा परिग्रहका, शरीर का ममत्व त्याग कर नये सरमें व्रतों को धारण कर अठारह पाप व चारों आहारका त्याग करके शरीरकी सालसंभाल हिफाजत आदि छोड़ता हुआ समाधि पूर्वक रहे, परन्तु यदि इतना ममत्व न हटे और शरीर समय तक चलता दिखे तो थोड़े थोड़े समयकी अवधि मर्यादा डालकर त्याग प्रत्याख्यान करता रहे जैसे मैं अमुक समय तक कुशील (अब्रह्मचर्य) का सेवन करूंगा, अमुक २ क्रय विक्रय आदि व्यापार नहीं करूंगा व्यापारार्थ बाहर नहीं जाऊंगा, अमुक २ पदार्थ का सेवन न करूंगा, रात्रि भोजन-पान न करूंगा, इत्यादि त्याग करे तथा उपवासादि अनसन या उणोदरी तप कर, सब प्रकार के अनीति के काम छोड़े, श्रावकके व्रतोंको धारण करके वृत्ति संकोच करे और अपनी भावना पवित्र बनावे, गरीब अनाथ मनुष्य एवं पशुपक्षी आदिकी रक्षा में या ज्ञानो-पार्जन की संस्थाओं में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करे जिसें आरम्भ समारम्भ निपजे वैसे कार्यों के यथा अवसर त्याग करे, जैसे चक्की, ऊखला, मूसला आदि से नाज वगैरा सचित पदार्थ पीसने, दलने का, कुवा, नदी, तालाब आदि पर जाकर नहाने धोने या पानी लाने, जवाई व्योहारी आदिको नकद वालियें वाने इत्यादि त्याग करना चाहिये। इस तरह अपनी आत्माको साधन

जब मृत्यु समीप जान पड़े तो संथारा सल्लेखना करके पंडित मरण द्वारा देह त्याग करना चाहिये।

कोई २ विवेकी सम्यक् दृष्टि पुरुष अपना समय सन्निकट आया जानकर अपना मृत्यु सुधारने के हेतु त्याग प्रत्याख्यान या संथारा करना चाहते परन्तु कुटुम्बीजन स्वार्थ व मोहवश उनकी उत्तम भावना सिद्ध करने में विघ्न करते हो या बाधक बनते हों तब उन लोगों को अपने पास बुलाकर इस प्रकार समझावे।

अहो! इस शरीर के माता पिता! आप अच्छी तरह समझ लें कि इतने दिन यह शरीर आपका था किन्तु अब यह आपका नहीं है। अब इसका आयुर्बल पूर्ण होरहा है अतः किसी का रखा रहने वाला नहीं है। आप चाहे जितना मोह ममत्व करो, चाहे जितना स्नेह दर्शाओ परन्तु इससे कुछभी गरज पड़ने की नहीं है। इसकी इतनी ही स्थिति थी, अब यह पूर्ण होने आई है। अतः इस शरीर से ममत्व क्यों करते हो? इस शरीर से प्रीति करना, ममत्व करना केवल दुःख का ही कारण है। जितना अधिक ममत्व रखोगे उतना ही अधिक झूरना पड़ेगा। यह शरीर तो जितनी इसकी स्थिति अवशेष है, उतने ही समय तक रहेगा, बाद किसी की ताकत नहीं कि एक क्षण

मात्र भी इसको रख सके । मेरी आत्मा ने जैसा शुभाशुभ कर्मों का सचय किया है और जिस गति का आयु बांधी है वहां चली जावेगा । इन्द्रचन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र किसी की यह शक्ति नहीं है कि वे देह छोड़कर परभव जाते हुए आत्मा को एक क्षण भी रोक सके । खुद देवता लोक भी जब आयुष्य पूर्ण होकर परभव में जाते है तब अन्य देव और देवियें मुह ताकते ही रह जाते हैं । और काल बली उसको अपना स्थान छुड़ाकर उत्पत्ति स्थान को लेजाता है । अतः इस अनित्य अशाश्वत शरीर मे अपना ममत्व हटाओ यदि आप मेरे हितैषी हैं, तो मुझे अपना आत्म हित साधने से न रोक अपितु मुझे अपना आत्म कल्याण करने और भव सुधारने के लिये आप से बन सके उतनी सहायतादें मेरी आत्मा इस देहसे ममत्व हटाकर श्रीजिनेश्वर देव के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करे ऐसी मदद करे। मेरी आत्मा शरीर और कुटुम्ब का सम्बन्ध भूलकर पौद्गलिक पर्यायों से दूर हो और आत्म भाव में दृढ बने वैसा साहित्य या परमात्मा के शरण रूप उत्तम वचन सुनाओ, इस से मेरा विचार आत्म दशा में अटल बनकर काल कराल के सामने मोरचा मांडने को मैं समर्थ बने ।

इसी तरह माता भगिनी तथा अन्य कुटुम्बियों को भी देहकी असारता तथा धर्म ही

आदि समझावे यह संसारी सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं जिसमें भी जहां तक जिसका स्वार्थ पहुंचता है, वहीं तक प्रेम दर्शाया जाता है। स्वार्थ में बाधा पहुंची की वे ही सज्जन अप्रिय बन जाते हैं।

यह आप जानते ही हैं कि इतने दिनों तक मैंने आपकी यथा साध्य सेवा बजाई है, प्रेम पोषण किया है, पर अब यह शरीर अपना रूपमार दिखाने लगा है, इस लिये आपकी तांबेदारी उठाने में असमर्थ हूं आपसी इस शरीर से अपना ममत्व हटाओ। यदि आप मेरे सच्चे हितैषी हैं तो इस समय मुझे परभव का साथी बनाओ, ममत्व है वह दुखदायी है अत: बाधक न बनते हुए मेरे साधक बनो और मुझे मरण अवसर सुधारने के लिये प्रेरणा दो।

इसी तरह स्त्री को भी बुलाकर समझावे कि हे सुभगे! तेरा और मेरा संयोग था सो अपना सम्बन्ध जुड़ा और तूने मेरी अनन्य भाव से शुद्ध प्रेम पूर्वक सेवा की है। मैंने भी यथासाध्य तेरा पोषण किया और अपना संसार जीवन सुखी बनाया परन्तु ज्ञानी पुरुषोंने इस उदारिक शरीर का जैसा स्वरूप बताया है, वह इस रोग बिमारी के द्वारा प्रत्यक्ष दिखा रहा है, अब यह शरीर नष्ट होने वाला और दगा देने वाला है।

इस लिये मैं सावधान हो कर मेरा आत्म हित साधने को तत्पर हुआ हू। इसमें तू मेरी सच्ची हितैषी और पति भक्ता है तो यह अवसर मोहममत्व में डालकर मेरा व तेरा अहित करने का नहीं, किन्तु बाहर गांव जाते समय मेरे हितको लक्ष्य में रखकर सब प्रकार की सुविधा को लिये साधन सामग्री बाधती थी, इसी तरह इस समय भी परभव जाने के लिये जिस तरह मयणरेहा ने जुगबाहुको साज देकर उसके परिणामों को शुद्ध बनाये और नर्क जाते हुए को पलटाकर देवगति में पहुचाया, उसी तरह तू भी साजदे और त्याग प्रत्याख्यान तथा परमात्मा की शरण रूप भाता बधा, यह अवसर मोह ममत्व करके मेरा अहित करने का है नहीं, सो हिम्मत रखकर भाता दे। यदि केवल मतलब की ही सगाई हो तो तू तेरी जाय मेरे पास से उठ जा।

मैं जानता हू कि मेरे मरने से तेरी दशा अनाथसी हो जायगी परन्तु मैं क्या करू, मेरे वश की बात है नहीं यहा सब लाचार है। मेरी शिक्षा माने तो अब तक मेरी सेवा करती थी परन्तु अब सब कुटुम्बियों की और संसारकी सेवा करना। इसने सब तेरे हितैषी बन जावेंगे। और श्रीजिनेश्वर देव का प्रतिपादन किया
धन करके सच्ची श्राविका बनना और

पालन करके मेरे खानदान की शोभा बढ़ाना इसी में मेरा और तेरा कल्याण है। स्त्री और भर्तार केवल देह की पर्याय है, आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है। आत्मा तेरी और मेरी सरीखी है वास्ते भविष्य में भी पर्याय छूटे वैसा उपाय करना और सतगुरू की शिक्षा को हृदय में धारना अब इस अनित्य अशाश्वत शरीर का ममत्व छोड़कर धर्म का साझ दे। इस प्रकार स्त्री को समझावे तथा पाठान्तर से स्त्री पति को समझावे।

अब पुत्र पुत्रियों को बुलाकर समझावे, अहो! पुत्र पुत्रियों तुम सयाने हो, समझदार हो, तुमने नैतिक व धर्म की शिक्षा प्राप्त की है सो मुझे सतोष है। नीति पूर्वक अपना ससार व्यवहार रखकर इस खानदान को दिपावोगे तुम्हारा और हमारा इतना ही सयोग था। यह तो मेला है एक आता है, एक जाता है, अत मेरे से मोह ममत्व हटा कर मुझे धर्म को साझ दो। यही तुम्हारा कर्त्तव्य है। मोह ममत्व करने से कोई गरज सरती नहीं, उल्टी आत्मा भारी होती है। वास्ते अब मुझे आत्म कल्याण साधते हुए रोक कर, तुम से बने सो साझ दो और जैन सिद्धान्त में बताये मुजब माता पिता की सेवा चाकरी करके कोई उऋण नहीं होता परन्तु केवली प्ररूपित धर्म में जोड़ने से उऋण हो सकता है वास्ते यह समय आ पहुंचा है। यह

मौका साधना ही बुद्धिमानी है किमा धिक्यम् । मेरी शिक्षा मानोगे तो नीति पूर्वक वर्तना, कुटुम्बकी साल सभाल लेना, यथा साध्य उनसे प्रेम कर उनका पोषण करना और श्रीजिनेश्वर देवका धर्म मिला है, जिसकी आराधना करना, यही जीवनका सार है । सांसारिक नाता सब झूठा और स्वार्थका है, यह लक्ष्य में रखने से तुम्हारी आत्मा पापसे डरती रहेगी और धार्मिक भावना बनी रहेगी।

इस प्रकार कुटुंबीजनों को समझाकर उनका मोह छुड़ाकर वह शुद्धात्मा संथारा सलेखना करे जिसकी विधि—

सब से प्रथम जहां संथारा करना है उस स्थान का पूंजन प्रति लेखन करके बाद शरीर चिन्ता लघु नीति बड़ी नीति या शरीर के अन्य पदार्थ परठना पड़े तो उस भूमि कामी पूजन प्रतिलेखन कर लेना चाहिये । बाद डाभादिका संथारा (घास बिछाकर) उस पर बैठके सब से पहले क्षेत्र विशुद्धि के लिये चउविसत्थव करना जिस में सब से प्रथम इच्छाकारेण का पाठ बोलकर तस्स उत्तरी का पाठ कहना, फिर इरियावही की पाटीका कायोत्सर्ग करना, बाद लोगस्स कह कर नमोत्थुण के पाठ से सब से प्रथम सिद्ध भगवन्तको पश्चात् अरिहन्त भगवानको फिर अपने धर्माचार्यजी को व साधु साध्वियों करके सब श्रावक श्राविकाओं से क्षमा

के जो २ शल्य हो, शंका हो, दूषण सेवन किया हो, या वैर विरोध हो, उन सबको दूर करके सर्वथा प्रकार हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रह आदि अठारह ही पापों का व चौविहार (तिविहार) आहारका त्याग कर शरीरकी साल सभाल शुश्रूषा का त्याग करके कालकी अपेक्षा न करते समाधि भाव में रहे। फिर आत्माको समाधि, भाव में कायम रखने के लिये इन ग्रन्थों का वाचन मनन या श्रवण करे।



स्वर्गीय पं० सदासुखजी कृत—



मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागौददातुमे ॥
समाधिबोधपाथेयं, यावन्मुक्ति पुरापुरः ॥ १ ॥

अर्थ-मृत्यु के मार्ग में प्रवर्तते हुए मुझे हेवीतराग प्रभो' ऐसा समाधि रूप बोध का भाथा दीजिये जिसकी सहयाता से मैं मुक्तिपुरी को जाय पहुंचू ॥ १ ॥

भावार्थ—संसारी जीव अनादि काल से जन्म मरण के चक्कर में पड़े हुए महान् संक्लेश पारहे हैं परन्तु सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हुए बिना भव भ्रमण मिट नहीं सकता। ऐसा विचार करके कोई २ भव्यात्मा जन्म मरण के दुःख से घबरा कर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हेप्रभो! मैंने जन्म लेकर मरणतो अनन्ती बार किये परन्तु ऐसा समाधि युक्त मरण्य रहित मरण नहीं किया जिससे जन्म मरण की सन्ततिका उच्छेद हो होजाय।

मैं अनादि काल से मिथ्यात्व मोहनीय के वश पड़ा हुआ देह के नाश को ही अपना नाश मान कर महान् सक्लेष युक्त हाय २ करता हुआ मरा, परन्तु अब मुझे सद्गुरु की कृपा से मिथ्यात्व मोहनीय का ज़ोर हटकर यह भान हुवा है कि देह के नाश के साथ ही मेरा नाश नहीं होता मैं सच्चिदानन्द शाश्वत और अविनाशी हू।

देहका नाश होते हुएभी मेरे ज्ञान दर्शनादि गुण कायम रहे, किन्तु विषय कषायों के द्वारा इन आत्मिक गुणोंका नाश न हो, यही सम्यक् मरण है। इस लिये हे वीतराग प्रभो ! मुझे ऐसा सम्यक् बोध रूप, शान्ति भावका पाथेय (भाता) प्रदान करो जिससे मैं इस प्रकार के सम्यक् मरण द्वारा मुक्ति पुरीको प्राप्त करू। आप जन्म मरण रहित होगये हैं इसी कारण मैं आपही का शरण ग्रहण करता हू।

अब मैं अपने ही आत्मा को समझाता हू।

कृमिजाल शताकीर्णे, जर्जरे देह पञ्जरे
भज्यमानेन भेतव्य, यत स्त्व ज्ञान विग्रह ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन ! सैकडों कृमियों (कीटो) की जाल से आकीर्ण (भरा हुवा) और जर्जरित इस देह रूपी पिञ्जरे को नष्ट होता देखकर तू जरासी भय मत कर

क्योंकि इसके नाश होते हुए भी तेरा ज्ञानरूपी शरीर तो कायम ही रहता है।

भावार्थ—हे आत्मन्? तेरा स्वरूप तो ज्ञानमयी है जो अमूर्तिक, ज्योतिस्वरूप अखण्ड और अविनाशी है, ज्ञाता दृष्टा है और यह शरीर हाड मास, रुधिर एवं चर्म मय महा दुर्गन्ध वाला अपवित्र पदार्थों का पिण्ड है सो विनाशी है, तेरे स्वरूप से भिन्न स्वभाव वाला है किन्तु कर्म के संयोग से एक क्षेत्र में अवगाहन करके एकमेक होरहा है सो समय पाकर अवश्य ही बिखर जावेगा अतः देह का विनाश होता देखकर भय किसवास्ते करता है ॥ २ ॥

ज्ञानिन् भय भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्यु महोत्सवे ।
स्वरूपस्थ पुरयान्ति, देही देहान्तर स्थिति ॥३॥

अर्थ–ज्ञानी लोग कहते हैं कि मृत्युरूपी महोत्सव के प्राप्त होने पर भय किस बात का है, क्यों कि इस मृत्युरूपी मित्र की सहायता से ही आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ अन्य देह में जाकर निवास कर लेता है ॥३॥

भावार्थ–किसी को जीर्ण कुटी में से निकलकर नवीन भव्य महल में रहने का अवसर प्राप्त होता है, तब उस समय को वह बड़ा ही हर्ष सूचक एवं महोत्सव रूप

है परन्तु जराभी खेद नहीं करता है । इसी तरह ज्ञानी कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि आत्म तत्व दृष्टाभी अपने मृत्यु के अवसर को पाकर ऐसा मानता है कि अब यह जीर्ण शीर्ण अशुची पुद्गलों का भंडार स्वरूप औदारिक शरीर छूटकर नवीन, दिव्य सप्त धातुओं करके रहित एवं शुभ पुद्गलों से परिणित वैक्रिय शरीर प्राप्त होने का समय आया है। अत: म इस मृत्यु को देखकर भय किस बात का करूं अगर मैं भय शोक करके मृत्यु को बिगाड़ दूंगा तो फिर ऐसा सुअवसर मुझे बहुत काल में भी मिलना कठिन है वास्ते मुझे इस अवसर पर भय न खाकर महोत्सव मनाना चाहिये ॥ ३ ॥

सुदत्तं प्राप्यतेयस्मात्, दृश्यते पूर्व सत्तमैः ॥
भुज्यतेस्वर्भव सौख्य, मृत्यु भीतिः कुतःसताम् ॥४॥

अर्थ-गणधरादि-पूर्व काल में हुए-महात्माओं ने दिखलाया है कि भूत काल में उपार्जन किये हुए सुकृत्यों का फल जिस मृत्यु के प्रताप से प्राप्त होता है, उस मृत्यु रूपी मित्र की प्राप्ति के समय भय किस बात का ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे चेतन्य तैने छहों काय जीवों को अभय दान दिया, सत्य का सेवन किया, अन्याय पूर्वक प्राप्त होने वाले धन तथा स्त्री सग (पर स्त्री गमन) का त्याग करके

सन्तोष वृत्ति को धारण की है और अनेक प्रकार के दान पुण्यादि सुकृत किये है, उसका फल स्वर्गलोक सिवाय कहां होसकता है। उस स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाला यह मृत्यु नामक मित्र ही है, जिसकी कृपा से यह हाड मांस के पिण्ड स्वरूप देह छुटकर दिव्य वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है। अतः किये हुए सुकृत्यों के फल की प्राप्ति के समय तुझे परम आनन्द का अनुभव करना चाहिये किन्तु किसी प्रकार हाय विलाप करके विषय कषायवश आत्म समाधि का भंग हो ऐसा करना तुझे उचित नहीं है ॥ ४ ॥

आगर्भाद्दुःखसततः, प्रक्षिप्तो देह पिञ्जरे।
नात्माविमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु भूमि पतिं विना ॥ ५ ॥

हे भव्य मनु! नाम कर्म वैरीने तुझे इस उदारिक रूप पिंजरे में डाल दिया है जिस कारण गर्भ में आया तब से ही क्षण २ में क्षुधा तृषा रोग वियोग आदि दुःखों से पीड़ा पा रहा है इसे मृत्यु रूपी राजा के सिवाय कोई छुड़ा नहीं सकता ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन नाम कर्म रूपी शत्रु ने तुझे इस औदारिक देह रूपी पिंजरे में बन्द करके इंद्रियों के आधीन बनाकर नित्य क्षुधा तृषा, शीत ताप, रोग

आदि अनेक प्रकार से दुःख उपजा रहा है । सदा श्वासोच्छ्‌वास भीतर लेना और बाहर छोड़ना, अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ा पाना, उदरपूर्ति के लिये विविध प्रकार की पराधीनता भोगना सेवावाणिज्यकृषि आदि कार्यों में पीड़ा पाना, दुष्टों द्वारा ताड़न तर्जन कु वचनादि अपमान सहना और धन के कुटुम्ब के राजादि के आश्रित होकर रहना, ऐसे बन्दी ग्रह समान इस देह पिंजरे में पड़ा हुवा यातनाएं भोग रहा हूं इस कष्ट से मृत्यु रूपी बलवान राजा के बिना कौन छुड़ा सकता है अतः मुझे मृत्यु रूपी राजा का स्वागत करना चाहिये ॥ ५ ॥

सर्वदुःखप्रदंपिण्डं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन, प्राप्यन्तेसुखसम्पदाः ॥ ६ ॥

अर्थ–सर्व दुःखों को देने वाले पिण्ड (शरीर) से मृत्यु नामक मित्र के प्रसाद से ही छुटकर आत्म दर्शी सच्चे सुखों की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा नहीं इसलिये मृत्यु का अवसर प्राप्त होते ही तत्ववेत्ता पुरुष हैं वे सावधान होकर दुःख से छुटने का प्रयत्न करते हैं ।

भावार्थ—सम्यक दृष्टि आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष है, वेयों विचारते है कि यह प्रत्यक्ष दुर्गन्धमयी सप्त धातुओं से बना हुवा पिण्ड जिसके अन्दर अज्ञानी जीव अनेक प्रकार

के दुख और क्लेश पाते हुए भी इसपर अधिकाधिक ममत्व करके अकाम मरण मरकर नर्क तिर्यंचादि गति को प्राप्त होजाते हैं जहां असंख्यात और अनन्त जन्म मरण करते हुए महान् दुख भोगते हैं फिर भी दुखों का अन्त सहज नहीं आता इसलिये मुझे उचित है कि मैं अब अज्ञानता का त्याग करके जो सुवर्ण समय प्राप्त हुवा है उसका लाभ लेकर समाधि मरण मरूंगा तो मुझे यह क्लेश न भोगना पडेगा अपितु समाधि सहित शुद्ध परिणामों के द्वारा या तो इसी भव मे मुक्ति प्राप्त कर सकूंगा ताकि बारबार ऐसे दुख न उठाना पडे या सर्व कर्मों का क्षय नहीं हुआ तो दिव्यवैक्रिय शरीर धारण कर दिव्य सुखों का उपभोग करूंगा अतः मृत्यु को दु:ख दाता नहीं किन्तु सुखदाता मित्र ही क्यों न मानूं ॥ ६ ॥

> मृत्यु कल्पद्रुमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधितः ॥
> निमग्नोजन्मजंबाले, सपश्चात्किं करिष्यति ॥ ७ ॥

अर्थ—मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष के प्राप्त होने परभी जो आत्म हित नहीं साधता वह संसार रूपी कर्दम में खूंचाहुआ पिछे क्या करेगा ॥ ७ ॥

भावार्थ—विवेकी अपने आत्मा को सम्बोधन करके विचारता है कि हे आत्मन् ! मृत्यु साक्षात्

गमन भी स्वयं ही करता है, फिर मृत्यु का भय किससे हो सकता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा है सो तो देह में रहते हुए यों मानता है कि मैं दुखी हूँ मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, मैं मरता हूँ, मेरा नाश हुवा या होता है। ऐसा करके मृत्यु के समय भय पाता है। और अन्तरात्मा सम्यक् द्रष्टि है वह यों मानता है कि जो जन्मा है वह अवश्य ही मरेगा। पृथ्वी, पाणी, अग्नि, वायु आदि पुद्गल परमाणुओंका जो पिण्ड उत्पन्न हुआ वह अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा, मैं सच्चिदानन्द अमूर्तिक, ज्ञानमय अविनाशी आत्मा हूँ, मेरा नाश तो कभी होगा ही नहीं मैं तो त्रिकाल अखण्ड और अबाधित हूँ। क्षुधा-तृषा कफ वात पित्त रोगादि वेदना, पुद्गल जनित है। मैं तो इनका ज्ञाता द्रष्टा हूँ, मैं क्यों अहंकार ममकार करूं। कर्मोदय से इस शरीर के और मेरे एक क्षेत्र को अवगाहकर रहने रूप जो सम्बन्ध है सो शाश्वत नहीं है।

मैं अविनाशी और देह विनाशी है, इस लिये इसके छूटते समय भय किसका करूं। इसपर ममत्व करना अज्ञान एवं मिथ्यात्व है। मुझे ज्ञाता द्रष्टा बनकर इस देह के छूटते समय किसी का भय नहीं खाना चाहिये।

किन्तु वस्तु स्वभाव का विचार करके शान्ति ही धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

> संसारा शक्त चित्तानां, मृत्युर्भीत्ये भवे नृणाम् ॥
> मोदायतेपुनःसोपि, ज्ञान वैराग्य वासनाम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिनका चित्त संसार में आसक्त है, अर्थात जो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं उन्हें ही मृत्यु का भय होता है किन्तु जो ज्ञान और वैराग्य में बसते हैं वे मृत्यु को पाकर प्रसन्न होते हैं ॥१०॥

भावार्थ–मिथ्या दर्शन के उदय से जिसका चित्त संसार के भोगोपभोग में लुचा हुवा है, देह में ही आपा मान रखा है, खानपान काम भोगादिक इन्द्रिय के विषयों को ही सुख मान रखा है, वह बहिरात्मा अपना मरण काल निकट जानकर बड़ा भय पाता है और सोचता है, हाय ! अब तो मेरा नाश हुवा मेरे पिछे क्या होगा ? मैं कैसे मरूंगा ? अब ये खानपान ये एश आराम कहां मिलेगा ! मैं कहां चला जाऊंगा, यह सब कहां रह जायगा ? मैं किसकी शरण लेऊं ? कहां भागुं इत्यादि क्लेश पाता हुआ अकाममरण मरता है । परन्तु जो आत्मज्ञानी है वह अपना मृत्यु सन्निकट आया देखकर ऐसा विचार करता है कि मैं इस देहरूपी बन्दी खाने में पड़ा हुआ पराधीन

रहा हूं अनेक कष्ट पारहा हूं । इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि यातनाएं सहन कर रहा हूं । इन दुःख से छुड़ाने वाला और शास्वत सुख का दाता यह मरण ही है सो मैं शान्ति धारण करके परम समाधि प्राप्त करता हुआ ही मरण की शरण क्यों न प्राप्त करूं ॥ १० ॥

पुराधिशो यदायाति, सुकृतस्यबुभुत्सया ।
तदासौवार्यतेकेन, प्रपंचे पंच भौतिके ॥११॥

अर्थ—जब राजा अपने पूर्व पुण्योदय का उपभोग करने के लिये कहीं जाता हो उस समय पंचभूत द्वारा रचित प्रपंच से उसे कैसे रोका जाय ? ॥११॥

भावार्थ—यह आत्मरूपी राजा अपने पूर्व के सुकृत्यों के फल का उपभोग करने के लिये इस भवका आयु पूर्ण होजाने पर और परलोक सम्बन्धी आयु आदि छै कर्मों के किये हुए बन्ध का काल उदय होने पर जब इस अशुचि के भंडार रूप जीर्ण देह को त्यागकर नवीन वैक्रिय शरीर धारण करता है तब परलोक जाते हुए आत्मा को यह पंचभूत का पुतला कैसे रोक सकता है । अर्थात नहीं रोक सकता है, फिर इस देह के नष्ट होते चिन्ता का कारण ही क्या ॥११॥

मृत्युकाले सदा दुःखम्, यद्भवेत् व्याधि सम्भवम् ।
देह मोह विनाशाय, मन्येशिवसुखायच ॥१२॥

अर्थ-मृत्यु के समय जो दुःख और व्याधि उत्पन्न होती है, वह सत्पुरुषों को देह परसे मोह हटाने के लिये ही होती है और परम्परा में वही मोह का नाश एवं निर्वाण प्राप्ति का कारण बन जाता है ॥१२॥

भावार्थ—आत्मा जबसे मनुष्य जन्म धारण करता है तभी से वह इस देह के प्रति अपना ममत्व धारण करके इसी में तन्मय हुआ बड़ा सुख मानता है। देह को ही अपना निवास स्थान जानकर-इस पर ममत्व करता है। हर प्रकार इसकी हिफाजत करता है, परन्तु हिफाजत करते २ भी जब इस देह में रोग पीड़ादि प्रकट होजाते हैं तब देह की यह कृतघ्नता देखकर सत्पुरुषों का व्यामोह नष्ट होजाता है। और वे इस देह की अस्थिरता जानकर इसे विनाशी एवं दुःख दाता मानते है, और आत्मा का अविनाशीपन का अनुभव करके वीतराग जैसे बन जाते हैं, फिर ऐसा विचारते है कि इस देह का ममत्व करके मैंने अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण किया, व नरकादिकी यातनाएं सहन की है। इतने दिन तक इस देह को ही मेरा स्वरूप मानकर क्रूर कर्मों का संचय कर रहा था। किन्तु ज्वर खांसी श्वास-शूल-वात पित कफ अतिसार व मन्दाग्नि आदि रोगों ने मुझे सावधान किया है सो अब इनको उपकारी मानकर देह पर से ममत्व

मेरी आत्म ज्योति प्रकट करूं। और ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना में लगजाऊं, जिससे परम्परा में मुझे शिव सुख की प्राप्ति हो ॥ १२ ॥

ज्ञानी नोऽमृतसंगाय, मृत्युस्तापकरोपिसन् ॥
आमकुंभस्यलोकेऽस्मिन्, भवत्पाक विधिर्यथा ॥१३॥

अर्थः–यद्यपि इस ससार में अज्ञानि जनों को मृत्यु सन्ताप दायक होता है वे अपनी मृत्यु सान्निकट देखकर भय पाते हैं किन्तु सम्यक ज्ञानी जन मृत्यु के प्रसग को अमृत का सयोग मानते हैं। वे विचारते है कि यह मृत्यु नामक मित्रही मुझे इन दुखों से छुडाकर निर्वाण की प्राप्ति कराने वाला है। जैसे कच्चे घडे का आग्नि में पकना जल रूपी अमृत को धारण करने की योग्यता वाला बना देता है ॥ १३ ॥

भावार्थ–अज्ञानी लोग मृत्यु के नाम से ही त्रास पाते है कि अरे अबतो चला, मरा। ये मेरे सब कुटुम्ब परिवार हाट, हवेली, स्त्री, पुत्र, दास, दासी, हाथी, घोड़े आदि यही छुट जावेंगे जिनके सग्रह एव सचय करने के लिये मैंने बहुत दुख उठाये हैं कष्ट सहे हैं वे सब यहीं पडे रह जावेंगे, अब क्या करूं किसका शरण लेऊं, किधर भागकर प्राण बचाऊं। किसे पुकारूं इत्यादि विलाप करता है, किन्तु सम्यक्ज्ञानी मृत्यु का समय सन्निकट आया देखकर

विचारते है कि आयु कर्म के उदय मान होने पर मैंने जो देह धारण की है वह अपनी स्थिती काल पूर्ण होने पर अवस्य ही छुटने वाली है और मैं तो अविनाशी स्वभाव वाला ज्ञान मयी आत्म द्रव्य हु। मैं इस शरीरके छुटते सोच करू ही क्यों ? यह शरीर छुटेगा तो दूसरा दिव्य वैक्रिय शरीर मिलेगा। देवलोक में रहकर पूर्वोपार्जित सुकृत्यों का फल भोगूगा और भविष्य में कर्म रहित होकर शिव सुख का भोक्ता बनुगा। अतः मृत्यु से मुझे भय खानेकी जरुरत नहीं है। मुझे इस प्राप्त सुअवशर को ऐसा बनालेना चाहिये और ऐसा समाधि भाव में तल्लीन होजाना चाहिये जो अनन्त काल तक स्थिर रहकर निजगुण में परिणत होजाय यह दशा बिगर मृत्यु का ताप सहे प्राप्त होना कठिन है ॥ १३ ॥

> यत्फल प्राप्यतेसद्भिः व्रतायासविडम्बनात् ॥
> तत्फल सुखसाध्यस्यात्, मृत्युकालेसमाधिना ॥ १४॥

अर्थ—जिस फलादिका फल स्वर्गमें इन्द्रादि देव होकर प्राप्त किया जाता है वह इस मृत्यु के समय थोटे कालतक समाधि धारण करने से ही मिलता है और यही उपाय सुखसाध्य है इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय सुख साध्य नहीं है ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्वर्ग में इन्द्रादि की दिव्य रिद्धि तथा परंपरा में निर्वाणपद की प्राप्ति जिस २ संयम (पंचमहाव्रतादि) और तप के द्वारा होती है वह मृत्यु के समय आत्मा में समाधि भाव धारण करके देह तथा परिग्रहादिक का मय त्याग कर चारों आराध्यपदों शरण ग्रहण करने से तथा कायरता त्याग अपने ज्ञायक स्वभाव का अवलम्बन लेता हुवा मृत्यु प्राप्त करें तो सहज ही में सिद्ध परमात्मा अथवा देवलोकों में इन्द्रादि महर्दिक देव होता है। वहां से च्यवकर बड़े उत्तम स्थान में उत्पन्न होता जहां खित्तवत्थू आदि दस बोलों की सामग्री पावे। फिर वहां भी उसका त्याग कर दीक्षा धारण करके अपने रत्नत्रयी की पूर्णता प्राप्त कर निर्वाण पद पाता है ॥ १४ ॥

अनार्त शांति मान्मृत्यो, नतिर्यङ्नापिनारकः ॥
धर्मध्यानिपुरोमृत्योः, नसनित्र मरेश्वरः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिसके मरण समय में आर्त अर्थात् दुःखका नुभेवरूप परिणाम नहीं होते है, किन्तु राग द्वेष रहित शान्ति भाव रूप चित्त की समाधि को प्राप्त करके मरण करता है। उसको नर्क तिर्यंच गति की प्राप्ति नहीं होती अपितु धर्म ध्यान सहित अनशन धारण करके जो मरता है वह स्वर्गलोक में इन्द्र तथा अहमेन्द्रादि पर्यायों को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—सम्यक् द्रष्टि अपने आत्मा को बोध देता देता है कि हे आत्मन्! मरना तो तुझे अवश्यम्भावी है जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मरेगा, परन्तु यही मरण राग द्वेष रहित, समाधि सहित, धर्म ध्यान पूर्वक अनशन धारण करके करेगा तो तुझे नर्क तिर्यंचादि गतियों में जाकर दुःख न देखना पड़ेगा, किन्तु समाधि मरण से स्वर्ग में देवों का स्वामी इन्द्र तथा अहमिन्द्र होकर महान् सुखों का भोक्ता बनेगा, और शीघ्र ही निकट भविष्य में सब दुखों का अन्त करने वाली सिद्ध गति को प्राप्त करेगा ॥ १५ ॥

तप्तस्यच तपश्चापि, पालितस्यव्रतस्यच ॥
पठितस्य श्रुतस्यापि, फल मृत्यु समाधिनाम् ॥१६॥

अर्थ—तपस्या करके तपने का, व्रतों को धारण करने व पालने का, तथा श्रुत के पठन पाठन का फल यही है कि आत्मा को समाधि युक्त मरण होगा ॥१६॥

भावार्थ—हे आत्मन् तेने इतने काल तक इन्द्रियों के विषयों का दमन करके अनशनादि तप किया है, समस्त हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह का त्याग करके तथा मन वचन काया से आरम्भादि छोड़कर समस्त मित्र पर समभाव धारण करने रूप जो संयम का

किया है एवं सूत्र ज्ञान का पठन पाठन आत्म समाधि हेतु किया है सो मरण के अवसर आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होकर समाधि भाव में रमण करने के लिये ही यदि मरण के अवसर में आत्मा समाधि भाव में न रहा और कायरता धारण की तो यह सब निरर्थक हो जावेगा अतः इस मरण के अवसर में सावधानी छोड़कर समाधि का भंग होने देना कदापि उचित नहीं है ॥१६॥

अति परिचितेष्ववज्ञानवेद्, प्रीति रिति हीजनवाद
चिरतर शरीरनाशेन, नवतरलाभेच्चकिंभीरूः ॥ १७ ॥

अर्थ—लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जिस वस्तु का अति परिचय (अति सेवन) होजाता है, उसके विषय में अवज्ञा होजाती है । अनादर बुद्धि होकर रूची घट जाती है इसी तरह यह देह (शरीर) भी बहुत काल तक परिचय में आने के कारण अब प्रीति पात्र नहीं रहा, तब इस शरीर का नाश होकर नवीन दिव्य शरीर का लाभ होने के समय भय किस बात का अर्थात् इस समय तुझे भय चिन्ताकरना उचित नहीं है ।

भावार्थ—जिस शरीर का लालन पालन करते हुए साल संभाल करते हुए बहुत काल होजाता है, तब उससे रूची का हटना स्वाभाविक है और यह शरीर भी

के स्वभावानुसार जीर्ण शीर्ण होगया है इस हालत में के विनाश होने में भय किस बात का ? यह तो अपने स्वभावानुसार विनाश को प्राप्त होगाही फिर इस से ममत्व करके दुर्गति में जाने योग्य कर्म का बन्धन क्यों करू ? मैं पहलेही इससे ही ममत्व त्यागकर समाधि भाव को क्यों न अपनाऊं ॥ १७ ॥

स्वर्गे देव्य पवित्र निर्मल कुले संस्मर्यमाणाजनै ।
दत्वा भक्ति विधायिनो बहुविध वाञ्छानुरूप फलम् ॥
भुक्त्वा भोग महर्निश परकृतं स्थित्वाक्षण मडले ।
पात्रावेश विसर्जना मिवमृतिं सन्तोलभन्ते स्वतः॥१८॥

अर्थ—उपरोक्त प्रकार से भय रहित और समाधिस हित मरण मरता है उसकी स्वर्गादि उत्तम गति होती है । वहां से निकलकर उत्तम कुल में जन्म लेकर नाना प्रकार की ऋद्धि पायकर भोगोपभोग कर के संयमादिसहित वीतरागी बन अपने स्वस्वरूप में तल्लीन हो जाता है । जैसे नृत्यकार अखाड़े में आकर लोगों को आनन्द का अनुभव कराके निकल जाता है इसी तरह वह मव्यात्मा भी संसारको छोड़ शास्वत स्थानको प्राप्त करलेता है ॥१८॥

भावार्थ—सम्यक् दृष्टि आत्मा अपने मरण का अव-सर प्राप्त हुआ जानकर सब प्रकार के भय चिन्ता को छोड़कर समाधिभाव को धारण कर लेता है और

मरण करके स्वर्गादि में आकर सागरोपमा तक महा उत्कृष्ट सुखों का उपभोग करके पीछा मनुष्य लोक में मेरे भंडारों पर जन्म धारण कर उत्तम प्रकार के सुखोपभोग करता हुआ उन्हें भी अनित्य जाण दीक्षा भगवती को का अपनाय घाति कर्मों का क्षय करके शाश्वत सिद्धि गति को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह नृत्य करने वाला पुरुष अखाड़े में आकर अनेक प्रकार के अभिनय द्वारा सकल निरिक्षक लोगों को आनन्द देता हुआ वहां से निकल जाता है। वैसे ही सत् पुरुष अपनी लीला समेट कर यहा से निकल लोकाग्र के उपर आ विराजता है, जहां अनन्त काल तक "साइए अपज्जवसिए" भांगे से सदा काल तिष्ठता है ॥ १८ ॥

दोहा मृत्यु महोत्सव वचनिका, लिखि सिदा शुभ काम ॥
शुभ आराधन मरण की, पाऊ निज सुख धाम ॥१॥
१९४७ उन्नीसौ सैंतालिस में, द्वितिय भाद्रव मास ॥
सुद पाचम गुरुवासरे, वाचो मन उल्लास ॥२॥

—॥ शुभम् ॥—



समाधि मरण की २८ भावना

भवात्मा सम्यक् दृष्टि पुरुष अपनी आत्मा को समझा कर प्रशान्त बना व बनाने के लिये विचारता है कि–

१ अहो ! देखो इस पुद्गल पर्याय का स्वरूप कैसा विचित्र है जो अनन्त परमाणु इकठे होकर यह शरीर बना है, बढ़ा है और देखते ही देखते बिखराने लगा है। कैसा विचित्र स्वभाव है।

२ जिनेन्द्र प्रभो ! आपके वचन सत्य एवं तथ्य है कि–" अधूवे अशाश्वमि " यह शरीर अध्रुव (अस्थिर) एव अशाश्वता (अनित्य है) इतने दिन इसकी पर्याय का पलटा होता था, उसका मैं पूर्ण पणे ज्ञान नहीं रखता था। किन्तु अब शरीर की यह स्थिती देखकर आपके वचनों का पूर्ण पणे ज्ञान हुआ है कि वास्तव में शरीर अध्रुव और अशाश्वत है। इसपर ममत्व करना उचित नहीं।

३ जैसे अनेक मनुष्य मिलने (एक त्रित होने) मे मेला (बाजार) होता है और कइ दिन तक रहकर बिखर जाता है तब यह शुन्यारण्य हो जाता है वैसे ही यह संसार रूप मेला अनेक परमाणुओं के संयोग से हुवा और स्थिति पूर्ण होने पर बिखर ने लगा है इसमें मेरा क्या नुकशान है कारण मे पुद्गल मय नहीं हू मैं तो इस तमाशे को देखने वाला तमास गिर हूं।

४ इस संसार में सभी पदार्थ अपने २ स्वभावानुसार मिलते और बिखरते हैं, जैसे आकाश में बादलों का समूह इनका कर्ता हर्ता कोई नहीं है। इसी तरह यह शरीर मेरे रखने से रहता नहीं और बिखेरने से बिखरता नहीं तब मैं इसका वियोग होते समय चिन्ता क्यों करू ? जो होना होगा सो होगा।

५ मैं (चैतन्य) एक ज्ञायक स्वभावमय हूं। उसीका कर्ता, भोक्ता और अनुभवता हूँ, सो ज्ञायक स्वभाव तो अविनाशी है उसका किसी भी तरह विनाश नहीं होता त्रिकाल में अबाधित है फिर यह शरीर रहा तो क्या और गया तो क्या रहते और जाते मेरा स्वभाव एकसा है और एकसा रहेगा तब शरीर का विनाश होता देख चिन्ता किस बात की करू ?

६ हे जिनेन्द्र प्रभो ! इतने दिन मैं जानता था, कि यह शरीर मेरा है इसलिये इसको खिलाना पिलाना, शीत ताप से बचाना, साल समाल करना, इत्यादि हर प्रकार इसकी हिफाजत करता था, किन्तु अब मुझे सत्य २ भान हुवा कि यह शरीर न तो किसी का हुवा और न किसी का होगा, जो मेरा होता तो मेरे हुक्म में क्यों नहीं चलता, प्रत्यक्ष में रोग, जरा और मृत्यु को प्राप्त क्यों होता है इस लिये इससे ममत्व हटा।

७ अरे भोले प्राणी ! तेरे इस शरीर को माता पिता पुत्र बनावे, भ्राता भगनि 'भ्रात बनावें' पुत्र पुत्री 'तात बनावें' स्त्री 'भर्तार' बनावें और तू तेरा माने सो यह एक शरीर इतने का कैसे होवे ? जो होवे तो इसका विनाश होते हुवे क्यो न रख लेवे ! इसलिये शरीर और कुटुम्ब कोई भी तेरा नहीं है। और तू किसी का भी नहीं है। तू सबसे भिन्न चिदात्मक पदार्थ है।

८ यह सम्पत्ति तो जैसे इन्द्रजाल की माया, बादल की छाया, स्वप्न का राज्य, दुर्जन का काज अस्थिर है वैसे ही क्षीण भगुर है अध्रुव और अशाश्वती है फिर तू क्यों इसके ऊपर मोह ममत्व करता है और रात दिन अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर तथा राग द्वेष

नवीन कर्मों का बन्ध करता है। कृत कर्म बिगैर उसका फल भुगते छूट नहीं सकता। अतः सन्तोष धार का ममत्व घटा यही समझ का सार है।

९ हे आत्मन्! तू इतना अवश्य जान कि जो जीवित है सो मरता नहीं और मरता है सो जीवता नहीं अर्थात् आत्मा अमर एवं अविनाशी है। और काया तो प्रत्यक्ष ही मुर्दा है। आत्माकी प्रेरणा बिना काया स्वयं कुछ नहीं करती, फिर काया का विनाश होने में सोच फिकर क्यों करू? कारण काल तो जहां से जन्म हुवा (शरीर पैदा हुवा) वहां से ही इसका भक्षण कर रहा था और मैं आत्मा तो ऐसा का ऐसा ही हू। मेरा (आत्मस्वरूपका) मरण त्रिकाल में होता ही नहीं।

१० मैं चैतन्य आकाशवत् स्वच्छ एवं अरूपी पदार्थ हू। अग्नि का, पानी का, शस्त्र का या अन्य मृत्यु देने वाले किसी भी पदार्थ का मेरे ऊपर किञ्चित भी जोर नहीं चल सकता। जैसे—मक्खी दौड़ २ कर मिठाई, गुड़ या ऐसे ही अन्य पदार्थों पर बैठती है किन्तु अग्नि पर नहीं। इसी तरह यह काल भी बार २ इस शरीर को ही ग्रसता है मुझे नहीं। मैं न तो पकड़ा जाऊ और न कोई से नाश पाऊ। मेरे में और आकाश में भी इतना फर्क है कि वह

अचैतन्य अमूर्ति है और मैं सचेतन्य अमूर्ति हूं इसलिये मैं आकाश से भी अधिक सत्वशाली हूं।

११ जैसे किसी श्रीमन्त के पुत्र के दोनों खीसे में मेवा भरा रहता है सो वह जिधर हाथ डाले उधर ही मेवा हाथ में आवे, इसी तरह मेरे भी दोनों हाथ लड्डू है अर्थात् जीता रहूगा तो व्रत नियम तप संयमादि शुभ उपयोग की आराधना करूगा। और मरगया तो स्वर्ग मोक्ष के सुखों का उपभोग करूगा। वहां से (स्वर्ग से) विदेहक्षेत्र में विद्यमान श्री सिमंधरादि तीर्थंकर भगवान के, अनेक केवली भगवान के तथा भावितात्मा तपोधनी मुनिराज एवं महासतियों के दर्शन करूंगा उनकी वह पवित्रपावनी संसारोद्धारनी वाणी (देशना) सुनूंगा, प्रश्नोत्तर करके निःसंशय बनूंगा और तत्ववेत्ता होकर राग द्वेष के क्षय करने में समर्थ बनूंगा।

१२ जैसे किसी के पहले रहने का घर (मकान) जूना पुराणा होकर गिरने जैसा होजाता है तब वह बहुत धन खर्च करके दूसरा मकान बना पाता है और वह तैयार होते ही अति हर्ष एवं प्रमोद के साथ उसमें प्रवेश करता व आनन्द से रहता है वैसे ही हे चैतन्य ! यह तेरा मनुष्य शरीर आधि (चिन्ता) व्याधि (रोग) और उपाधि

करके गल गया, शिथिल पड़गया, जरा और काल ने इसका सर्वस्व हरणकर इसे खोखला बना दिया है सो अब इससे ममत्व हटाकर तूने पहले जो धर्म करणी की है इससे तुझे स्वर्ग में देवादिक उत्तम गति प्राप्त होकर महादिव्य, मनोहर इच्छित रूप बनाने वाला और विघ्न बाधा रहित सुख देने वाला वैक्रिय शरीर प्राप्त होगा। वास्ते इस अस्थि, मांस रक्त, केश आदि मलीन पदार्थों से भरे हुए क्षण भंगुर शरीर पर ममत्व क्यों करता है? जब कि झोंपड़ी छूटकर महल प्राप्ति का समय आन पहुंचा है।

१३ जैसे कोई व्यापारी शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि अनेक दुःख सहन करके मालका संग्रह करता है और भाव आने की राह देखता है कि तेजी हो तो माल बेचकर नफा करूं। ऐसी इच्छा करते जब मनमाना भाव आजाता है तब वह अति कष्ट से सचय किये हुए माल पर किञ्चित भी ममत्व नहीं करता है और शीघ्र लाभ कमाता है, वैसे ही तूने भी अनेक शीत, ताप, क्षुधा, तृषादि कष्ट सहकर जो धर्म रूप माल संग्रह किया है सो अब काल रूप तेजी का भाव आया है और मृत्युरूपी मित्र तेरे मालके बदले में स्वर्ग मोक्षादि के इच्छित सुख देरहा है। अत तू अब इस नाशवान रूप देह पर ममत्व करके अनन्त लाभ उपार्जन करले।

१४ हे आत्मन्! अपने किये हुए सुकृत्यों का फल तो मृत्यु ही देने वाला है। मृत्यु हुए बिना इस देह से तो स्वर्गादि में जाकर रह नहीं सकता। इस लिये मृत्यु तो मेरा मित्र है जो मुझ पर उपकार करता है और स्वर्गादि सुख देता है।

१५ कोई पर चक्री राजा किसी राजा को पकड़ कर पिंजरे में डाल देवे जहां खान पानादि के अनेक कष्ट उसे उठाने पड़ते हैं और वह पराधीन बन जाता है, उसका कुछ भी जोर नहीं चलता है उस समय इसकी खबर उसके किसी जबरदस्त राजा को पड़े और वह अपने मित्र राजा वैरी के ताबे में से छुड़ाकर सुखी कर देता है उसी प्रकार कर्म रूप शत्रु ने मुझे इस देह रूपी पिंजरे में डालकर स्वासोच्छ्वास लेना, क्षुधा तृषा, ताडन तर्जन, रोग, शोक शीत ताप दु:ख पराधीनता इत्यादि बंदी (कैदी) जैसा बनाय रक्खा है, इसकष्ट एवं पराधीनता से छुड़ाने वाला यह मृत्यु नामक मित्र ही है जिसकी कृपा से मैं स्वतन्त्र सुखी बन सकूँगा।

१६ स्वर्ग एवं मोक्षादि सुख का देने वाला समाधि मरण के सिवाय संसार में कोई भी समर्थ नहीं है इसलिये यह अवसर मुझे चूकना नहीं चाहिये। मरण तो इस आत्मा ने अनन्तों बार किये हैं, परन्तु विषय कषाय के

होकर आशा तृष्णा सहित असमाधि मरण किये इससे मेरी कोई गरज नहीं सरी उल्टा भव भ्रमण की सन्तति बढाकर चतुर्गति में गोते खाये। अब सद्गुरू की कृपा से मुझे वास्तविक ज्ञान हुआ है सो अब सावधान होकर आशा तृष्णा रहित बनकर समाधि मरण की आराधना करूं।

१७ जैसे भोग भूमि के मनुष्य (युगालिये) को कल्पवृक्ष इच्छित सुख की पूर्ति करता है उसके निचे जाकर इच्छा करने स उसकी इच्छा पूर्ति हो जाती है। इसी तरह मुझे भी अपनी इच्छा पूरने वाला कल्पवृक्ष मृत्यु का अवसर प्राप्त हुवा है सो अब इसकी छाया में बैठकर जो विषय कषायादिकी अशुभ इच्छा करूंगा तो नर्क तिर्यंचादि की अशुभ गति प्राप्त होगी और सम, समवेग, निर्वेद, त्याग, वैराग्य, व्रत, नियम, सत्य शील सन्तोष क्षमा आदि शुभ इच्छा करूंगा तो देवादिकी शुभ गति होकर मोक्ष सुख का अधिकारी बनुंगा।

१८ औदारिक शरीर का यह स्वभाव है कि वह हाड मांस लोहू, राद, मल मूत्र आदि सप्त धातुओं से बना हुवा होने के कारण शीघ्र ही सड़ जाता, गलजाता, और अशुचि पदार्थों के सग्रह से खुद को भी घृणा उत्पन्न

करता है, एसी अर्जरित अपवित्र देह से छुडाकर दिव्य वैक्रिय शरीर यह समाधि मरण ही दे सकता है।

१६ जैसे मुनि महात्मा अनेक नय, उपनय, हेतु दृष्टान्त एव प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से शरीर का स्वरूप समझाकर इसपर से ममत्व दूर करता है तैसे ही मेरे शरीर में यह जो रोग पैदा हुवा है सो मेरेको प्रत्यक्ष प्रमाण देकर उपदेश कराते हैं कि हे चैतन्य ! तू इस पिंड (शरीर) पर क्यों ममत्व करता है ? यह पिंड तेरा नहीं है यह तो मेरे स्वामी काल का भक्ष्य है। चाहे तू कितना भी यत्न कर वह तो पाकर इसका भक्षण करेगा ही।

२० जहांतक इस शरीर में किसी प्रकार की व्याधि (पीडा) न हो वहांतक इसपर से ममत्व नहीं उतरता है। इतना ही नहीं विशेष रूप से ममत्व करके इसका पोषण करता रहता हूँ, परन्तु जब कोई रोग उत्पन्न होता है और उपचार करते हुएभी जब रोग शान्त नहीं होता है तब इसके असली स्वभाव का भान होकर स्वाभाविक ही प्रेम कम होजाता है। इस लिये मुनिराज से भी ज्यादा उपकारक ममत्व छुडाने वाला उपकारी मेरे तो यह रोग हुवा है।

२१ रे आत्मन् ! इस रोग को देखकर क्यों [illegible] हो सचमुच ही रोग तुझे खराब लगता हो, इस [illegible]

कराल गया हो तो अब इन बाह्य औषधियों का सेवन करना छोड़ ! क्योंकि रोग है वह कर्माधीन है और औषधियों में कर्म का दूर करने की शक्ति नहीं । कदाचित् तेरा उपादान सुधरा हो, असाता वेदनी का जोर कम पड़ा हो तो औषधि के निमित्त से एकाद रोग दूर होसकता है । इसमें क्या हुआ, मिटा हुवा रोग तो पीछा मरुयाता असंख्यात काल में पीछा होजाता है परन्तु जिनेन्द्र भगवान रूप सर्व रोग और सर्व चिकित्सा के ज्ञाता महा वैद्यराज की फरमाई हुई समाधिमरण रूप महा औषधि का सेवन कर जिससे सर्व आधि व्याधि उपाधि नाश होकर अजर अमर अनन्त अक्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो ।

२२ जो वेदनाका उठाव ज्यादाहो पीड़ा ज्यादा होती हो सकल्प विकल्पों और हाय विलाप न करते हुए अपनी आत्मा को इस तरह समझा कि जैसे तीव्र ताप लगने से सोना शीघ्र निर्मल होजाता है, वैसे ही इस तीव्र वेदना के कारण यदि इसे शान्त भाव से हाय विलाप रहित होकर सहन करूगा तो मेरे आत्मा पर लगा हुवा अशुभ कर्म रूप मैल शीघ्र ही दूर होजायगा । हाय वॉय करने से भी उदय आये हुए कर्म का जोर तो कम होता ही नहीं उल्टा अधिक नवीन कर्मों का बन्ध होता है । अत. हाय वॉय न करते हुए समभाव से ही क्यों न सहन करू !

२३ हे चैतन्य ! तेने नरक में परवशपणे अनन्त वेदना सहन की परन्तु सम्यक्त्व बिना कुछ गरज नहीं सरी। जितनी निर्जरा सागरों तक वेदना सहन करने से हुई उतनी ही नहीं उससे अनन्त गुणी अधिक निर्जरा जो तू इस समय समभाव रखकर सहन करेगा तो तुझे होगा यह जैन सिद्धान्तों का अभिप्राय है।

२४ जो देनदार साहुकार को नम्रता से एकसो रूपये के बदले पीचहत्तर रूपे देकर फारकती मांगे तो मिल भी सकती है, और करडाई करे तो सवाये दाम देने से भी छुटकारा होना मुश्किल है, वैसे ही कर्म रूप लेनदार लेना मांगते हुए खड़े हैं तो तूं नम्रता से इसका देना चुकाकर फारकती लेने का प्रयत्न कर और फारकती लेकर छुटकारा कर इसी में कल्याण है।

२५ हे चैतन्य ! यह तो निश्चय से जाण कि किये हुए कर्मों का कर्ज चूका कर कृत्य कृत्य हुए बिना मोक्ष कदापि होने का नहीं। कर्म सहित कोई भी भूतकाल में सिद्ध हुवा नही, वर्तमान में होता नही और भविष्यत् काल में कोई होगा नहीं। अतः उदय आये हुए कर्मों को समभाव से सहन करके कृत्यऽकृत्य बन।

२६ जैसे भाव आनेपर निर्मोल्य वस्तु को बेचकर वणिक लोग महा लाभ प्राप्त करते है, वैसेही यह मृत्यु रूपी भाव आये है। इस समय तू अपने तप संयम रूप माल का

प्राप्त करने रूप आराधिक पद प्राप्त करने' का प्रयत्न कर और समभाव धारण करके मृत्यु का स्वागत कर जिसमें स्वर्ग के सुखों का भोक्ता बनकर पिछा मनुष्य जन्म प्राप्त करके संयम ग्रहण कर दुष्कर तप करता हुवा घाति कर्मों का नाश करके शास्वत सुखों का भोक्ता बने।

२७ आत्मन्! तेने इतने दिन जो ज्ञानादिका अभ्यास किया है तप त्याग और अनादि धारण किये है सो इस समाधि मरण में सम परिणाम रखने के लिये ही है सो अब इस बात को याद कर और समाधि युक्त संथारा संलेखना करके शल्य रहित परम शान्ति सहित जीवन को सार्थक कर।

२८ जैसे वस्त्र को बहुत दिनों तक वापर लेने से वह पुराणा हो जाता है और उससे मोह हट जाता है वैसे ही यह शरीर भी अब पुराणे जीर्ण वस्त्र सरीखा होगया है। अत इससे ममत्व त्याग कर समाधि सहित पंडित मरण को भेटार जिससे इहभव और परभव में आनन्द ही आनन्द वर्ते और शास्वत सुखों का भोक्ता बने।

—[इत्यलम्]—

नोट—उक्त भावनाए श्रीमान् सेठ अगरचंदजी भेरूदानजी साहब बिकानेर वाला की तरफ से प्रकाशित समाधि मरण की ... भावना से संशोधन पूर्वक उद्धृत की है।

अनन्त वीर्य शक्ति ये आठ गुण आठों कर्मों का अन्त होने से प्रकट हो चुके हैं। जिनके आत्मिक सुखों का वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं, उपमा देने के लिये तादृश्य वस्तु नहीं, जो निरूपम सुखके भोक्ता है, उन महापुरूषों का शरण ग्रहण करता हू।

३ तीसरा शरण श्री साधु भगवन्त का ग्रहण करता हूँ जिन्होंने ससार के सब प्रपंच छोड़कर अपना आत्म साधन ही मात्र ध्येय बना लिया है, जिनको किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं, किसी प्रकार भय शोक नहीं, मोहमात्सर्य दम्भ आडम्बर आदि दुर्गुणों को अपने पास फटकने ही नहीं देते हैं, सदा ज्ञान ध्यान में मग्न रहते हैं। जो भव्य जीवों के परम हितैषी है, छकाय जीवों के रक्षक एव नाथ बन चुके हैं। भव्य जीवों को सदुपदेशादि द्वारा मुक्ति मार्ग में अग्रसर करते हैं। खुद अनेक कष्ट की परम्परा को सह लेते हैं परन्तु पर दुःख को देख नहीं सकते, उनपर करुणा बुद्धि लाकर आधि व्याधि उपाधि के दुःखों से [illegible]ाते हैं, जिनके दर्शन मात्र से भव्य जीव वैर विरोध [illegible]र मैत्री-भाव धारण कर लेते हैं।

[illegible]नाम मात्र के ही साधु नहीं कि जिनका वेश[illegible] [illegible] और न अन्दर के अन्दर कलुषित भावोंको

पैंतीस वचन वाणी के धरणहार है, जहां इन महापुरुषों के पदार्पण होते है वहां से पचीस २ योजन तक मारि-मृगि, रोक शोक, अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि विघ्न दूर हो जाते है। जिनके प्रताप से सिंह और बकरी पास २ बैठने पर भी वैर विरोध नहीं जागते है। जो भव्य जीवों को सन्मार्ग का दर्शन कराकर जन्म जरा मरण के दुखों से छुड़ा मुक्ति मार्ग के सन्मुख करते है, ऐसे अरिहन्त भगवन्त आज इस भरत क्षेत्र में विद्यमान नहीं है किन्तु महाविदेह में श्री सीमंधरादि बीस तीर्थंकर तथा दो क्रोड़ केवली भगवान विचरते है, भव्य जीवों को उपदेश करके उनको कल्याण में प्रवृत करते है। ऐसे त्रिजगत्पूज्य अरिहन्त भगवन्तों का मैं शरण ग्रहण करता हू।

२ दूसरा शरण श्री सिद्ध भगवन्त का ग्रहण करता हू। जिन्होंने सर्व कर्म शत्रुओं का नाश करके लोक के अग्र भाग पर स्थान पाया है. जहां जन्म मरण दुःख क्लेष रोग शोक चिन्ता भय आदि सब सकट नष्ट होगये है। सम्पूर्ण जगत के चराचर भावों को जान व देख रहे है, जो सदा के लिये कृतकृत्य होगये है जिनको फिर ससार में अवतीर्ण होने का कारण ही नहीं रहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, स्वस्वरूप रमण चारित्र, अटल अवगाहन, अमूर्त, अगुरु लघु, और

अनन्त वीर्य शक्ति ये आठ गुण आठों कर्मों का अन्त होने से प्रकट हो चुके है । जिनके आत्मिक सुखों का वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं, उपमा देने के लिये तादृश्य वस्तु नहीं, जो निरूपम सुखके भोक्ता है, उन महापुरूषों का शरण ग्रहण करता हूँ ।

३ तीसरा शरण श्री साधु भगवन्त का ग्रहण करता हूँ जिन्होंने ससार के सब प्रपच छोड़कर अपना आत्म साधन ही मात्र ध्येय बना लिया है, जिनको किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं, किसी प्रकार भय शोक नहीं, मोहमात्सर्य दम्भ आडम्बर आदि दुर्गुणों को अपने पास फटकने ही नहीं देते हैं, सदा ज्ञान ध्यान में मग्न रहते हैं । जो भव्य जीवों के परम हितैषी है, छकाय जीवों के रक्षक एव नाथ बन चुके हैं । भव्य जीवों को सदुपदेशादि द्वारा मुक्ति मार्ग में अग्रसर करते हैं । खुद अनेक कष्ट की परम्परा को सह लेते हैं परन्तु पर दुःख को देख नहीं सकते, उनपर करुणा बुद्धि लाकर आधि व्याधि उपाधि के दुःखों से छुड़ाते हैं, जिनके दर्शन मात्र से भव्य जीव वेर विरोध भूलकर मैत्री-भाव धारण कर लेते हैं ।

जो नाम मात्र के ही साधु नहीं कि जिनका गृहस्थों पर पटे और वे अन्दर के अन्दर कलुषि-

[illegible]कार व भवन में वर्जित रहे किन्तु जिनके दर्शन मात्र से लगान शान्ति का अनुभव करे ऐसे महात्मा जो अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरते हैं जो तथारूप के श्रमण निर्ग्रन्थ हैं वीतराग आज्ञा के आराधक हैं, प्रवचन के प्रभावक हैं पांच महाव्रतों का निरतिचार पालन करते हैं, पांच समिति और तीन गुप्ति के आराधक हैं, उन महा पुरुषों का शरण ग्रहण करता हूं।

४ चौथा शरण श्री आप्त प्रतिपादित धर्म का ग्रहण करता हूं। जो धर्म आत्मा को दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी शरण भूत है, रक्षक है। जिस दयामय धर्म की आराधना करके अनन्त जीवों ने अपना कल्याण किया व कर रहे हैं, जिस धर्म के कारण आत्मा संसार सागर का पार पाकर इच्छित स्थान (मुक्तिधाम) को प्राप्त कर लेता है। आत्म धर्म रूप कल्पवृक्ष का आश्रय पाकर बड़े२ पापी और क्रूर कर्मी भी पवित्र हो जाते हैं नर्क में जाने वाले भी स्वर्ग और मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं, ऐसे पतित पावन दया दान-दमन रूप केवली प्ररूपित धर्म का मुझे बार २ शरण हो।



आत्माको शुद्ध-पवित्र बनाने वाली-

* बारह-भावना *

॥ चौपाई में ॥

पंच परम गुरु वंदन करूं, मन वच भाव सहित उर धरूं ।
बारह भावन पावन जान, भाऊं आतम गुण पहिचान ॥१॥

१ अनित्य-थिर नहीं दीखे नयनों वस्तु, देहादिक अरु रूप समस्त ।
थिर बिन नेह कौनसे करूं, अथिर देख ममता परिहरूं॥२॥

२ अशरण अशरण नाहि शरण नहीं कोय, तीनलोक में दृगधरि जोय ।
कोई न तेरा राखनहार, कर्मनसे चेतन निराधार ॥ ३ ॥

३ संसार अरु संसार भावना येह, पर द्रव्यन से कैसा नेह ।
तू चेतन ये जड़ सर्वंग, तातें तजो परायो संग ॥ ४ ॥

४ एकत्व-जीव अकेलो फिरे त्रिकाल, ऊर्ध्व मध्य भवन पाताल ॥
दूजा कोई न तेरे साथ, सदा अकेलो फिरे अनाथ ॥ ५ ॥

५ अन्यत्व-भिन्न सदा पुद्गल से रहे, भ्रम बुद्धि से जड़ता गहे ।
वे रूपी पुद्गल के खंद, तू चिन्मूर्ति सदा

६ अशुचि अशुचि देख देहादिक अंग, कौन कुवस्तु लगी तेरे संग ।
अस्थि चाम रुधिरादिक देह, मलमूत्र निलख तजो सनेह ॥७॥

७ आश्रव आश्रव पर से कीजे प्रीति, तातैं बंध पड़े विपरीति ।
पुद्गल तोहि अपनपो नांय, तू चेतन ये जड़ सब आंय ॥८॥

८ संवर–संवर परको रोकन भाव, सुख होवे को यही उपाव ।
आवे नहीं नये जहां कर्म, पिछले रुक प्रगटे निजधर्म ॥९॥

९ निर्जरा थितिपूरी ह्वै खिर २ जाय, निर्जरभाव अधिक अधिकाय ।
निर्मल होय चिदानंद आप, मिटे सहज परसंग मिलाप ॥१०॥

१० लोक–लोकमांही तेरो कछु नांय, लोक अन्य तू अन्य लखाय ।
यहसब षट्द्रव्यनका धाम, तू चिन्मूर्ति आतमाराम ॥ ११ ॥

११ बोध दुर्लभ परको रोकनभाव, सो तो दुर्लभ है सुन राव ।
जो तेरे है ज्ञान अनन्त, सो नहीं दुर्लभ सुनहु महन्त ॥१२॥

१२ धर्म धर्म स्वभाव आपही जान, आप स्वभाव धर्मसो ही मान ।
जबवह धर्म प्रगट तोहे होय, तब परमातम पद लखसोय ॥१३॥

ये ही बारह भावनसार, तीर्थंकर भावे निरधार ।
होय विराग महाव्रत लेय, तबभव भ्रमण जलांजली देय ॥१४॥

'भैया' भावो भाव अनूप, भावत होय तुरत शिव भूप ।
सुखअनन्त विलसो निशदिश, इम भाख्यो स्वामी जगदीश ॥१५॥

कर्म सग जीव मूढ है, पावे नाना रूप।
कर्म रूप मल के टले, चैतन सिद्ध स्वरूप ॥ ४ ॥
कर्म रूप मल के सुधे, चेतन चादी रूप।
निर्मल ज्योति प्रगट भये, केवल ज्ञान अनूप ॥ ५ ॥

इस प्रकार आत्मा एव पुद्गल की भिन्नता विचारते हुए सले इना के पाच अतिचारों को टाले वे इस प्रकार हैं।

१ इहलोगा ससप्प ओगे–इस लोक के भोग प्रधान, राजा महाराजा चक्रवर्त्यादि की ऋद्धि की वाञ्छा करना।

२ परलोगा ससप्प ओगे–स्वर्ग में देव इन्द्र अह-मेन्द्र पद तथा ऋद्धि की वाञ्छा करना।

३ जिविया ससप्प ओगे–सथारा सलेहना करने पर महिमा बढे तब अधिक जीने की वाञ्छा करना।

४ मरणा ससप्प ओगे–दुख कष्ट या वेदना की प्रबलता देखकर शीघ्र आयुष्य पूर्ण होजावे ऐसी वाञ्छा करना।

५ काम भोगा ससप्प ओगे–काम भोगों की वाञ्छा करना या ऋद्धिवानों की ऋद्धि देखकर निदान करना। उपरोक्त दोषों से बचकर जीवन की अन्तिम आराधना हो जिससे आत्मा परमात्मा बनें। इत्यलम्